युग-धर्म

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखित]

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर ।

प्रथमबार, २०००
मूल्य एक रुपया दो आना
सन् उन्नीस सौ इकत्तीस

मुद्रक
जीतमल लूणिया.
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर.

'युगधर्म' क्या है ?

इस संग्रह का नाम 'युगधर्म' इसलिए रक्खा गया है कि विविध विषयों पर होते हुए भी इन लेखों में हमारे वर्तमान कर्तव्य पर ही ज़ोर दिया गया है। यद्यपि मेरी सब से अधिक दिलचस्पी मानवता के विकास में है, परन्तु भारतीय मानवता का विकास गुलामी के हिमालय ने रोक रक्खा है। जबतक हम परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतन्त्रता की साँस नहीं लेने लगते तबतक भारतीय राष्ट्र का पुनर्निर्माण महान् कष्ट-साध्य है। अतएव प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि पहले वह इस हिमालय को चूर-चूर कर दे। परन्तु इसकी अर्थात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति की विधि ऐसी हो जिससे भावी राष्ट्र-निर्माण में सुगमता हो, हमें अपनी दिशा में परिवर्तन न करना पड़े। इस विधि की खोज में रचनात्मक कार्यक्रम की उत्पत्ति हुई है। यह कार्यक्रम स्वराज्य-प्राप्ति और राष्ट्र-निर्माण दोनों में सहायक होगा। पिछले सत्याग्रह-संग्राम ने यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि जहाँ रचनात्मक कार्य अधिक हुआ था—जहाँ कार्यकर्ताओं ने लोगों की कुछ सेवा करके उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ लिया था वहीं सत्याग्रह सबसे अधिक सफल हुआ है। रचनात्मक कार्यक्रम क्या है ? राष्ट्ररचना के दुर्बल अङ्गों को सबल बनाना, मुरझाये अङ्गों को खिलाना,

सोयी शक्तियो को जगाना दूसरे शब्दों में भारतीय मानवता के सम्पूर्ण अङ्गों का समान विकास करना। 'युगधर्म' में आप देखेंगे कि इन सभी दिशाओं में पाठकों को विचार और उत्साह-सामग्री दी गई है। स्वराज्य को प्राप्त करना, उसके लिए जीने और उसके लिए मरने की तैयारी करना, एवं राष्ट्रनिर्माण की नींव डालना ही भारत का वर्तमान 'युगधर्म' है। पाठकों को 'युगधर्म' मे इसकी झलक दिखाई दिये बिना न रहेगी। यदि इन दोनों बातों की प्रेरणा पाठकों को 'युगधर्म' से मिली तो मैं इस संग्रह को सार्थक समझूगा। यह मेरे अबतक के प्रकाशित—'हिन्दी नवजीवन' 'मालव-मयूर', तथा मासिक 'त्यागभूमि' में छपे—लेखों का चुना हुआ संग्रह। मै इतना जानता हूँ कि मेरे लेखों को पाठक चाव से पढ़ते है। इससे आशा होती है कि यह संग्रह उन्हें पसन्द होगा और उनके लिए लाभकारी भी सिद्ध होगा।

(लोकमान्य की पुण्यातिथि)
१ अगस्त —१९२१
गाँधी-आश्रम, हटुण्डी

हरिभाऊ उपाध्याय

???

युग-धर्म

१. आह्वान
२. आदर्श
३. साधना
४. समस्या
५. संस्कार
६. संयम
७. मेरे हृदय-देव !

हरिभाऊ उपाध्याय

"यह क्रान्ति—युग है।...मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि अन्दर ही अन्दर घोर मंथन हो रहा है और एक नई सृष्टि—नई रचना तैयार हो रही है।"

—क्रान्तियुग

आह्वान

१. क्रान्ति-युग

२. पागल बनो !

रुद्र का ताण्डव देखकर किसे डर नहीं लगता ? वह महा श्मशान, वे अगणित नर-मुण्ड, वह विराट शरीर की ज्वाला और वह उन्मद नृत्य जिसकी एक एक लय मे अगणित जीर्णलोक नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, देखकर कौन स्थिर रह सकता है ? कौन इसका आह्वान करेगा ? किन्तु इतने पर भी जो रुद्र है वही शिव है— लोग इस साधारण बात को भूल जाते हैं । विनाश, नवीन जीवन की सूचना है । क्रान्ति भी हमें हमारे सतह से एकाएक ऊपर उड़ा लेजाकर नये युग के निर्माण की सूचना देती है । वह प्रकृति-शरीर की असाधारण अवस्था है । जब बच्चे सीधी तरह नहीं मानते और बिगड़ते जाते हैं तो माँ, बच्चे के हितके लिए, बुरे दिखने और लगने वाले कठोर उपायो की शरण लेती है। क्रान्ति भी यही करती है । इसलिए आइए, निडर होकर, भविष्य की आशा के साथ, उसका शुभंकर आह्वान सुनिए ।

[१]

क्रान्ति-युग

जो होने वाला है !

यह क्रान्ति-युग है। वह देखो, क्रान्ति आ रही है ! क्या भारत के अन्दर, और क्या बाहर, क्रान्ति अपनी सुवर्ण-रेखायें फैलाती जा रही है। मुझे यह स्पष्ट दीख रहा है कि अन्दर ही अन्दर घोर मंथन हो रहा है और एक नई सृष्टि—नई रचना तैयार हो रही है। आज चाहे वह सब को सोलह कलाओं में न दिखाई दे, पर अगले १०–५ वर्षों में लोग उसे 'वस्तुस्थिति' के रूप में देखने लगेंगे। यह मंथन, यह उथल-पुथल, इतने वेग के साथ हो रहा है कि दुनिया की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। विरोधक शक्तियाँ या तो हारकर थक बैठेंगी, या अपने को उसके अनुकूल बना लेंगी। यह क्रान्ति मानसिक और सामाजिक जगत् के क्षोभ, शोध और जिज्ञासा का परिणाम होगी।

पतन, प्रगति और क्रान्ति

क्रान्ति जीवन की विशेष अवस्था है। जीवन-धारा जबतक बे-रोक बहती और स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती चली जाती है तबतक उसे प्रगति कहते हैं। जब अज्ञान, अन्धता, दुर्बलता और विलासिता आदि दोषों के कारण, उस प्रवाह का रास्ता रुक जाता है तब समाज का पतन समझना चाहिए और जब जीवन का भीतरी चैतन्य इन समस्त कठिनाइयों, रुकावटों को सहन करते-करते, अधीर और उतावला होकर, फूट निकलता है तब उसे क्रान्ति कहते हैं। पतन की अन्तिम और उत्थान की आदिम अवस्था—इस संक्रमणावस्था—का नाम है क्रान्ति। समाज जब अपनी बुराइयो और अ-समताओं के द्वारा प्रकृति के सरल-स्वच्छ पथ को कँटीला-कँकरीला और गंदा बना देता है, जीवन के लिए असह्य बना देता है, तब ईश्वर जिस सुगंधित हवा के झोके और तूफ़ान को भेजता है, वह है क्रान्ति। ज्वर शरीर के अन्दर छिपे विकार को सूचित करता है और साथ ही वह नैरोग्य की क्रिया भी है। इसी प्रकार क्रान्ति जहाँ समाज के दोषों की परिचायिका है तहाँ वह उन्हे धोकर बहा ले जानेवाली और जीवन को स्वच्छ, सुन्दर, सतेज बनानेवाली जबरदस्त पतितोद्धारिणी गंगा भी है। नासमझ लोग ज्वर को देखकर घबरा जाते हैं, भयभीत हो उठते हैं; उसी तरह क्रान्ति की मूर्ति देख-

कर भी, उसका महत्व और सौंदर्य न समझनेवाले, भौंचक हो जाते हैं। क्रान्ति हेय नहीं, स्वागत-योग्य वस्तु है।

भारत की आत्मा इस समय क्रान्तिशील है। सारा भूमण्डल मुझे तो चक्कर खाता हुआ नज़र आ रहा है। राजनैतिक जीवन में उसने साम्राज्यवाद की जड़ खोखली कर दी है। राजों-महाराजों की अपरिमित सत्ता अब नाम-मात्र को रह गई है। रूस के ज़ार का तो नामोनिशान दुनिया में न रह गया। इंग्लैण्ड और जापान आदि देशों के राजा अब प्रजा के प्रभु नहीं रह गये—प्रजा के सेवक बन गये हैं और इसी रूप में, इसी स्वाभाविक रूप में वे राजा बने रह सकते हैं। हमारे देश के राजों-महाराजों के भी पैर क्रान्ति की इस थपेड़ में उखड़ रहे हैं। जो दूरदर्शी हैं, होश में हैं, वे इसे देख और अनुभव कर रहे हैं; कुछ अपने अनुभवों को क्रियात्मक रूप देने को भी उत्सुक हो रहे हैं यद्यपि इस उत्सुकता में अभी सच्ची प्रजा-हितैषिता का अंश थोड़ा ही है; जो खुर्राटे भर रहे हैं, वे क्षुब्ध समुद्र की रुद्र तरंगों की उछाल पर अपने को जगा हुआ पावेंगे। जब क्रान्ति के उषा-काल में लोग जग गये हैं और सहयोगिता के नाम पर राष्ट्र-निर्माण का कठिन सवाल हमारे सामने है, प्रजा भेड़ और राजा गडरिया, यह हालत अब नहीं रह सकती। ये विचार अब जंगली-से मालूम होने लगे हैं। अब तो प्रजा—जनता अपना व्यवस्थापक

स्वयं पसन्द करेगी, किसी शासक का जूआ अपने कन्धे पर न रहने देगी। एकतंत्र की जगह प्रजातंत्र का दौर-दौरा होगा। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा, छोटे राष्ट्रों और देशों को जीत कर, लूटकर उन पर प्रलय तक अपना आधिपत्य जमाने की महत्वाकांक्षा अब अनुचित और आसुरी समझी जाने लगी है और साम्राज्यवादी अब जगतीतल पर नहीं खड़े रह सकते। मुट्ठीभर लोगों के अमन-चैन और ऐशोआराम के लिए जनता के सुख पर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की उम्र अब अधिक नहीं दिखाई देती; अब तो बहुजन-समाज के हित के लिए थोड़े लोगों को अपनी सत्ता और ऐश्वर्य के त्याग करने का ज़माना नज़दीक आ रहा है।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में मिथ्या शास्त्रवाद का गला घोटने में भी वह क्रान्ति तत्पर दिखाई देती है। वह दिन नज़दीक आरहा है जब धन, बल या सत्ता के ज़ोर पर समाज में कोई किसी भले आदमी को तंग और बरबाद न कर सकेगा। धन, बल और सत्ता का स्थान अब न्याय, नीति और प्रेम को मिलने वाला है। धनी ग़रीबों के प्रति, पूँजीपति मजदूरों के प्रति, शासक प्रजा-जन के प्रति अपने शुद्ध कर्त्तव्यों में दिन-दिन जागरूक रहने लगेंगे।

संसार में अब पूँजीवाद, सेनावाद और सत्तावाद का आदर कम होता जा रहा है; और समतावाद, जनतावाद और शान्तिवाद की आवाज़ ऊँची उठ रही है। यूरोप में कम्यूनिज़्म, बोल्शेविज़्म, और भारत में गाँधीज़्म इसके सबूत हैं। ऐसा दिखाई पड़ता है कि अब धनवानों और सत्तावानों, पुरोहितों और पोथी-पण्डितों, धर्म-गुरुओं और मठाधीशों के बुरे ग्रह आ रहे हैं, और दलित, पीड़ित, पतित, निर्बल—किसान, मज़दूर, अछूत और स्त्रियों के अच्छे ग्रह उदय हो रहे हैं। महज़ विद्या, बुद्धि, धन, सत्ता या पाखण्ड के बल पर समाज में आदर पानेवालों का युग जा रहा है और सेवाशील, निःस्वार्थ, सच्चे लोगों का युग आ रहा है। अब समाज में केवल इसलिए कोई बात नहीं चलने पावेगी कि किसी ने ऐसा कहा है, अथवा कोई ऐसा लिख गया है; बल्कि वही बात मान्य होगी, जिसे लोग व्यक्ति, देश और समाज के लिए अच्छा और उपयोगी समझेंगे। अनेक देवी-देवताओं की पूजा उठ कर एक ईश्वर की आराधना होगी। वेद, क़ुरान, इंजील, स्मृति, पुराण, आदि में से वही बातें क़ायम रहेंगी जो बुद्धि और नीति की कसौटी पर सौ टञ्च की साबित होंगी। मुझे तो ऐसा भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि भारत की वर्ण-व्यवस्था और विवाह-कल्पना को भी एक बार गहरा धक्का पहुँचेगा। अब जन्म के कारण कोई बड़ा या छोटा,

ऊँचा या नीचा नहीं माना जायगा; बल्कि योग्यता और सेवा के कारण माना जायगा। केवल विवाह-संस्कार हो जाने के बल पर अब पति पत्नी को अपनी मनोवृत्तियों की दासी न बना सकेगा; बल्कि जीवन के मंच पर पति-पत्नी एक ही आसन पर बैठेंगे। भोग-विलास या कौटुम्बिक सुविधा विवाह का हेतु और आधार न रहेगा; बल्कि परस्पर प्रेम, स्नेह और सह-धर्म होगा। बाहरी बन्धन शिथिल होंगे, और आन्तरिक एकता बढ़ेगी। बाल-विवाह के और वृद्ध-विवाह के पाँव लड़खड़ा रहे है और विधवा-विवाह जोर पर है। खान-पान और ब्याह-शादी में जात-पाँत की दीवारें टूट रही हैं और हिन्दू, मुसलमान और ईसाई-संस्कृति के संयोग से भारत में संशोधित संस्कृति भीतर ही भीतर निर्माण हो रही है। अब समाज में कोई सिंहासन पर और कोई खाली फ़र्श पर न बैठने पावेगा; बल्कि सब एक जाजम बिछाकर साथ बैठेंगे।

आर्थिक जगत् में—

आर्थिक संसार में भी क्रान्ति के काले बादल उमड़ रहे हैं। व्यापार और उद्योग दूसरों को चूसने के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्र और मानवजाति के हित के लिए होना चाहिए—यह भाव दृढ़ होता जायगा और धन एक जगह इकट्ठा न होकर लोगों में बँटने लगेगा। बुद्धि-बल पर अथवा

ज्ञान को बेच कर धन कमाना श्रेष्ठ न समझा जायगा; बल्कि मेहनत-मजूरी करके अपने पसीने की रोटी खाना धर्म समझा जायगा। अब भिक्षा-पात्र नहीं, चर्खा या हल ब्राह्मणों और बेकारों के हाथों में दिखाई देगा।

साहित्यिक क्षेत्र में—

साहित्य, काव्य और कला भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। इनकी मण्डली में भी क्रान्ति ने उपद्रव मचाना शुरू कर दिया है। भारत में साहित्य-सेवा अब मनोरंजन की, आमोद-प्रमोद की, या पेट पालने की वस्तु न रहेगी; बल्कि आत्म-निवे‌दन तथा आत्म-विकास के लिए होगी। कोरे ग्रन्थ-कीटक, निरे काव्य-शास्त्रज्ञ, अब समाज में न ठहर सकेंगे, अब तो उसीकी पुस्तकें, पढ़ी जायँगी, जो विद्या, तपस्या और सेवा की त्रिवेणी बन गया होगा। अब तो उसीकी कवितायें गाई जायँगी, उसीके चित्र मीठी चितवन से देखे जायँगे, जो स्वाधीनता के विरह में मत-वाला होकर रोयेगा, चीखेगा, जो अपनी वियोग-व्यथा की आग से बच्चे-बच्चे को विकल कर देगा और जो अपनी कूँची की एक-एक रेखा में बिजली डालेगा। काव्य और कला क्या हैं? हृदय की गूढ़तम अव्यक्त अस्फुट वेदना के उद्गार। मानव-हृदय जब आन्दोलित, क्षुब्ध और विकल होकर पागल हो उठता है, तब इस पागलपन में

वह जो कुछ बकता है, या कूँची से टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींच देता है वही काव्य और कला है। इस पागलपन में वह अद्भुत बातें कर डालता है और करा लेता है। यह जीवनी-शक्ति जब काव्य-कला में कम पड़ जाती है तब समाज की तृप्ति उससे नहीं होती। जब समाज उसकी निष्प्राणता से ऊब उठता है तब काव्य-कला की अमर आत्मा नव-नव रूपों में प्रकट और विकसित होती है—वही अन्तरात्मा नवीन कलेवरों में प्रस्फुटित होती है। हिन्दी के वर्त्तमान काव्य-साहित्य में आज इसी क्रान्ति के दर्शन हम कर रहे हैं। अब कवि नवीन भावावेश में, नई भाषा में, नई धुन में गाते हैं और नवीन छन्द बन जाते हैं, नवीन व्यंजना दर्शन देती है, नवीन कल्पनायें सामने आती हैं, नये भाषा-प्रयोग जन्म पाते हैं। छायावाद इसी क्रान्ति का परिणाम है। सविकार प्रेम को—शृंगार-रस को—आत्मिक और दैवी रूप देने की चेष्टा इसी क्रान्ति की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार चारों ओर क्रान्ति ही क्रान्ति के परमाणु फैल रहे हैं। हम चाहें या न चाहें, हमें अच्छी लगे या बुरी, यह सर्वतोमुखी क्रान्ति अब टल नहीं सकती। नये विधाता नये ब्रह्माण्ड की रचना कर रहे हैं। पुराना ईश्वर भी अपने दोषों और गुणों-सहित नवीन रूप में हमारे सामने आ रहा है। एक-एक अणु नये जीवन और

नये भविष्य की रचना में लगा हुआ है। ओ प्राचीन, तू जीर्ण-शीर्ण कलेवर के मोह को लेकर कबतक आहें भरता रहेगा ? तू उठ, काया पलट कर और अपने नवीन नेत्रों से अपने नवीन तेजस्वी सुन्दर रूप को निहारकर खिल उठ ! तेरी अन्तर्वस्तु वही है, तेरा बाह्य रूप नवीन है। यही क्रान्ति है !

---

[२]

पागल बनो !

क्या आप स्वराज्य चाहते हैं? आजादी चाहते हैं ? बिना विलम्ब चाहते हैं ? तो उसके लिए पागल बनिए , पागल बनिए ! पर क्या आप पागल दिखाई देते हैं ? स्वराज्य के पागल आज भारत में कितने हैं ? आजादी के मतवाले लाल कितने हैं ? 'समझदारी' बुरी चीज़ नहीं। भारत को अपने समझदारों का अभिमान भी है। पर जब वह समझदारी हमको पागल बनने से रोकती है तब हम न घर के ही रहते हैं न घाट के ही। हम मानते हैं कि दिमाग़ हमारा पथ-प्रदर्शक है, हमारा चौकीदार है। पर क्या देहरादून से मसूरी का पहाड़ महज़ देख लेने से हम मसूरी के सुखों को पा गये ? हमारे आला दिमाग़ ने हम को वता दिया कि हमारे त्रिविध ध्येय की सिद्धि का यह और यही एक मार्ग है। हम छोटे-बड़े दिमाग़ों ने भी अपना दिमाग़ लड़ा देखा। हम क़ायल

हो गये, आज तक क़ायल हैं कि भारत के स्वराज्य के लिए शान्तिमय अहिंसात्मक आन्दोलन के कार्य-क्रम से बढ़कर क़ाबिल और कारगर कार्यक्रम दूसरा नहीं हो सकता पर क्या इतने ही से हमें स्वराज्य मिल सकता है ? स्वराज्य तो तभी मिलेगा जब हम उस रास्ते पर चलने के लिए मतवाले हों। दिमागों ने अपना काम किया। कोई ४५ वर्षों से भारत के दिमाग़ स्वराज्य के लिए लड़ रहे थे। पिछले एक वर्ष हमारे दिलों ने लड़ाई लड़ी। नतीजा आपके सामने है। स्वराज्य की सड़क पर आज आपने इतनी मंज़िलें तय कर ली हैं, जितनी दिमाग़ी लड़ाई से आप सौ वर्षों में भी मुश्किल से तय कर पाते। अब दिमागी लड़ाई का ज़माना निकल गया। हम उससे कोसों आगे बढ़ गये। अब फिर उसी लड़ाई का विचार करना हानिकर है। अब तो हमारे दिलों को लड़ने दीजिए, दिमाग़ आराम करे। दिल मैदान में अपना जौहर दिखावे। दिमाग़ी लड़ाई दिली लड़ाई की तैयारी भले ही हो पर वह आज़ादी की लड़ाई नहीं कही जा सकती। आज़ादी की लड़ाई तो दिल के ही द्वारा लड़ी जा सकती है। पागल होने का, मतवाला होने का माद्दा दिल में है; दिमाग़ में नहीं। आगे खींचने की ताक़त दिल में है दिमाग़ में नहीं। दिल इंजिन है, दिमाग़ 'ब्रेक' है। दोनों के बिना गाड़ी गन्तव्य स्थल पर—ठीक मुक़ाम पर नहीं पहुँच सकती। पर गाड़ी को आगे खींच ले जाने का काम तो

इंजिन का ही है। इंजिन के ठंडे पड़ जाने पर ब्रेक की ताक़त नहीं कि वह गाड़ी को आगे बढ़ा सके। दिल के निरुत्साह हो जाने पर दिमाग़ के बस की बात नहीं कि वह हमें आगे बढ़ा सके। दिल हमें आशा दिलाता है, हमें साहसी बनाता है, हमें निर्भयता सिखाता है, हमें सच्चा शूर-वीर बनाता है। दिमाग़ एक ओर जहाँ हमें भटकने से रोकता है तहाँ दूसरी ओर हममे छुपे-छुपे कायरता का संचार करता है। योद्धा लोग लड़ाई में दिल को अपना देवता बनाते है। दिल ही उन्हे कुर्बानी की ताक़त देता है। दिल ही उन्हे स्वराज्य की झलक दिखाकर उत्साहित करता है। दिमाग़ में विकास है, दिल मे क्रान्ति है। दिमाग़ कहते है—"धीरे-धीरे, होशियारी के साथ, जान बचाकर, फूँक-फूंक कर।" दिल कहता है—"कूद पड़ो, मर मिटो, एक दिन तो मरना है। आज की घड़ी नसीब न होगी।"

भारत के नौनिहालो! दिमाग़ से लड़ने का ख़याल छोड़ दो। यह धोखा है, माया है। दिल से लड़ो। दिल को आगे बढ़ाओ। दिल पागल है, मतवाला है। एक 'पागल' दिल ने सारे ब्रिटिश साम्राज्य को हिला डाला। क्या तुम पागल नहीं बन सकते? क्या दिमाग़ पर तुम्हारा दिल विजय नहीं पा सकता? क्या सोचते ही रहोगे, करोगे नहीं? कोसते ही रहोगे, आगे नहीं बढ़ोगे? रास्ता कठिन है, कँकरीला है, इसलिए उस हरी घास पर चलना

चाहते हो जिसे कोसों पीछे छोड़ दिया है ? आज तुम क्रान्ति के मार्ग पर हो। तुम्हारे ख़यालात में अद्‌भुत क्रान्ति हो गई है; अपूर्व जीवन आ गया है। तुम स्वराज्य को अपने दृष्टि-पथ में ले आये हो। अब अपने चरित्र में क्रान्ति करो। विपक्षी हाथ बढ़ावे तो सच्चे सत्याग्रही की भाँति, शान्तिपूर्वक उसकी बात सुनो; विचार करो और काम में लग जाओ। यदि सहयोग निष्फल रहे तो सिद्धान्त पर अटल रहकर श्रद्धा के साथ इस मार्ग पर बढ़ो। तुम्हारी माता संकट में है। तुम्हारा मान-गौरव गढ़े में पड़ा-पड़ा तड़प रहा है, तुम ग़ुलामी के पेट में हो। हिम्मत ही इस समय तुम्हारा साथ देगी। धीरज, धर्म, मित्र और अपनी हृदय-देवियों की परीक्षा का समय है। पहाड़ की चढ़ाई है। इसका अन्त हमेशा बड़ा सुख और आह्लादकारी होता है। बाग़-बग़ीचे का ख़याल छोड़ दो। फूल की सेजों की बात खतम करो। हलवा-पूरी का ऑर्डर स्वराज्य तक मुल्तवी कर दो। दिल पर हाथ रक्खो, उसमें उत्साह नज़र आवेगा। वह रात-दिन अपनी ड्यूटी बजाता है कभी नहीं थकता, न उकताता। हरिद्वार की गंगा का सन्देश सुनो—"बहते चलो, बहते चलो, उछलते चलो, कूदते चलो।" उसे आजतक श्रान्त या क्लान्त किसी ने नहीं देखा। वह हमारे हृदय के लिए पूजनीया है। वीर इस बात की शिकायत नहीं करते कि

"साहब, काम मुश्किल है; नहीं होता।" सिपाही तो इसमें अपनी बड़ी बेइज़्ज़ती—नहीं मृत्यु समझता है कि वह कहे—'यह हमसे न हो सकेगा।' वह मर भी मिटता है, पर 'न करने या न होने' का ख़याल भी नहीं आने देता। क्योंकि उसके पास दिल है। वह उसकी सिद्धि के लिए दिलोजान एक कर देगा; वह उसके पीछे पागल हो जायगा। क्या हम सचमुच स्वराज्य के पीछे पागल हो गये हैं? क्या हमने स्वराज्य के पीछे खाना-पीना, सुख से सोना, छोड़ दिया है? जीवन के आनन्द को भुला दिया है? स्वराज्य के लिए तन, मन, धन अर्पण करने में ही अपना आनन्द मान लिया है? क्या हमें बस एक ही धुन—आज़ादी की धुन है? क्या हमने करांची से कामरूप और हिमालय से कन्याकुमारी तक देश को हिला डालने का प्रण कर लिया है? अपने हाथ की या अपने घर की कती खादी के सिवा दूसरा कपड़ा न पहनने के लिए प्रतिज्ञा करली है? छुआ-छूत के पाप को भारत से नष्ट कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया है? प्रेम, शान्ति, भ्रातृ-भाव और क्षमा, उदारता, सौजन्य इन सद्गुणों के उत्कर्ष पर कमर कसली है? यदि इनमें से हमने कुछ भी न किया तो बताओ हम देश के लिए, स्वराज्य के लिए पागल कैसे हुए? यह मत समझो कि कोई बिना प्रयत्न किये तुम्हें स्वराज्य लाकर दे देगा। आप उसके लिए पागल बनो और साथ ही देश

के सामने सम्मानपूर्ण सहयोग द्वारा राष्ट्र-निर्माण का जो अवसर उपस्थित है; उसकी शर्तें पूरी करो; उसकी क़ीमत चुकाओ और साथ ही इसके लिए सदा तैयार रहो कि यदि यों कुछ न होगा तो शान्तिमय सत्याग्रह के रण-डंके से आकाश को कम्पित कर देंगे। देश के लिए पागल बनो; यदि समझौते से देश की आज़ादी मिलती हो तो समझौते के लिए दिल उछलने दो और यदि अहिंसात्मक सत्याग्रह—संग्राम से आज़ादी मिलती हो तो उसके लिए तैयार रहो। हर हालत में दिल को पागल कर रक्खो !

आदर्श ही व्यक्ति या राष्ट्र का नेता है। प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र का उत्थान और पतन उसके आदर्श के अनुसार होता है। वस्तुतः आदर्श-हीन जीवन व्यर्थ है।

[१]

आदर्श-विजय

प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र का उत्थान और पतन उसके आदर्श के अनुसार होता है। आदर्श ही व्यक्ति या राष्ट्र का नेता है। उसी व्यक्ति को राष्ट्र अपना नेता मानता है जो स्वयं आदर्श का भक्त हो, जो स्वयं आदर्श-रूप हो। आदर्श अन्तिम गन्तव्य स्थान है—व्यक्ति-गत अथवा राष्ट्रीय जीवन-रूपी रेलगाड़ी का आखिरी स्टेशन है। दरमियानी स्टेशनों की तरह आदर्श की यात्रा में भी अनेक मंज़िलें हैं। परन्तु रेल के स्टेशन के विपरीत ज्यों-ज्यों हम उसके नज़दीक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं त्यों-त्यों वह आगे बढ़ता जाता है। इसी कारण कुछ लोग उसे पाना असम्भव समझकर छोड़ देते हैं और निराश होकर अपने असली मुक़ाम पर लौट आते हैं। जीवनके आरंभ से लेकर आदर्श तक पहुँचने की यात्रा को ही व्यवहार या अमल कहते हैं। व्यवहार आदर्श का साधन है, पोषक है। व्यवहार आदर्श के लिए

है; आदर्श व्यवहार के लिए नहीं है। रेलगाड़ी हमें अपने अभीष्ट स्टेशन तक पहुँचाने के लिए है। स्टेशन-हीन रेल-गाड़ी की जो दुर्दशा हो सकती है वही दुर्दशा आदर्श-हीन जीवन की और व्यवहार की होती है। जो लोग आदर्श का उपहास करके केवल व्यवहार को ही सब कुछ मानते है वे मानो प्राणों की अवहेलना करके शरीर को ही उसका राजा मानने की मूर्खता करते हैं।

आदर्श भगवान् भास्कर की तरह केवल दूर से पूजा करने योग्य वस्तु नही है। आदर्श तो हृदय में धारण करने की, आलिगन करने की चीज़ है। जो लोग आदर्श का गुणगान तो करते हैं, पर उसके नज़दीक पहुँचने का प्रयत्न नही करते वे या तो कमज़ोर है या धोकेबाज़। कमज़ोर आगे बढ़ नही सकता और धोकेबाज़ का पतन हुए बिना नहीं रह सकता।

यों तो प्राणि-मात्र का आदर्श निश्चित है—मुक्ति, पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण विकास। परन्तु प्रायः प्रत्येक समाज और राष्ट्र के लोगो ने अपने अनुभव, चिन्तन, स्वभाव, आव-श्यकता, जल-वायु आदि के अनुसार अपना भिन्न-भिन्न आदर्श मान लिया है। ये भिन्न-भिन्न आदर्श वास्तव में अन्तिम आदर्श की दरमियानी मंजिलें है। परन्तु बहुतेरे राष्ट्र इस बात को भूल-से गये है। पूर्व और पश्चिम के जीवन में यदि कोई खास अन्तर है तो यही आदर्श का।

पश्चिमी लोगों ने भौतिक विकास को ही, शारीरिक सुख को ही, अपना आदर्श मान रक्खा है। और पूर्वी लोग आत्मविकास, आत्मिक सुख को अपना आदर्श मानते हैं। वे भौतिक-विकास को आत्म-विकास का साधन—दरमियानी स्टेशन मानते हैं। एक शराब पीना अपना आदर्श मानता है और दूसरा रोग दूर करने को अपना आदर्श मानकर दवा के तौर पर उसका सेवन करता है। यही अन्तर पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में है। आदर्श मानकर शराब पीनेवाला ज़िंदगी भर गटरों और सड़कों पर धूल चाटता फिरेगा और दवा के तौर पर पीनेवाला अपने रोग को दूर करके स्वस्थ्य और प्रसन्न रहेगा।

पश्चिमी लोगों की पूर्व पर विजय होने के कारण उनके भौतिक आदर्शों का सिक्का पूर्व के पराजित राष्ट्रों पर जमता गया। विजित भारत यदि गुलामोचित अनुकरण-प्रथा का शिकार हो जाय तो एक तरह से वह क्षम्य है, परन्तु स्वतंत्र जापान भी उन मायावी आदर्शों का पागल हो रहा है। महात्मा गाँधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करने के पहले तक भारत का राजनैतिक जीवन भी पश्चिम का अनुयायी हो रहा था। उनके संदेश ने यदि भारत में कोई महान कार्य किया है तो यही कि भारतीय राज-नीति पश्चिमी शराब के पीपे से निकलकर पूर्वी क्षीर-सागर में प्रवेश कर रही है। भारतीय आदर्श की दिशा में उसका

क़दम आगे बढ़ रहा है। कुटिल-नीति की लड़ाई को छोड़-कर उसने शान्तिमय-सत्याग्रह को अपने उद्धार का एक-मात्र साधन मान लिया है। कलकत्ता की विशेष महासभा के द्वारा राष्ट्र ने पहली बार शान्तिमय असहयोग के सिद्धान्त और कार्यक्रम पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई थी; फिर नागपुर और अहमदाबाद में उसने अधिकाधिक दृढ़ता से उसे अपने सिर चढ़ाया। महात्माजी के कारावास के बाद फिर पश्चिमी तत्त्वों ने, विदेशी मनोवृत्तियों ने, ज़ोर मारा, पर अन्त को गया तीर्थ में राष्ट्र ने फिर अपने आदर्श की रक्षा कर ली। गया-महासभा में महात्माजी के सिद्धान्त और कार्यक्रम की जो विजय हुई, उसके बाद इस पिछले एक वर्ष में देश-व्यापी सत्याग्रह युद्ध का जो बड़ा प्रयोग हुआ और जिसमें बड़ी सिद्धि मिली है वह समझने की एक चीज़ है। वह किसी व्यक्ति-विशेष की जीत या हार नहीं है, वह तो आदर्श की व्यवहार पर, भावना की शुष्क तर्क पर, प्रेम की क्रोध पर, सत्याग्रह भावना की विरोध पर, क्रान्ति की वैध-वृत्ति पर और पूर्व की पश्चिम पर विजय है। वह आदर्श की विजय है।

यहाँ हम विजेता और पराजित दल वालों को साव-धान कर देना चाहते हैं कि इस आदर्श-विजय को वे व्यक्तियों की हार-जीत समझने की भूल न करें। विजेता गर्व से उद्धत न हो जायँ; कृतार्थता की भावना उन्हें अक-

मण्य न बना दे। वीर तो विजय पाने पर अधिक विनयशील और अधिक क्षमाशील हो जाता है। असन्तुष्ट और उग्र भाई क्रोध और निराशा से पैदा होने वाली प्रतिहिंसा का रंग अपने पर न चढ़ने दें। यदि वे अपना अलहदा दल बनाकर अपने सिद्धान्तों को आज़माना चाहते हैं तो उन्हें इसका अधिकार है पर इस समय राष्ट्र ने अपनी आन्तरिक शक्ति की जो अनुभूति की है उसके लिए, उसे दृढ़ता और भविष्य के लिए और भी प्रभावशाली बनाने के लिए दृढ़ एवं अविच्छिन्न संगठन एवं आत्म-प्रकाशन की आवश्यकता है। इसलिए यदि हम असंतोष की धारा में न पड़कर थोड़ा धैर्य से भी काम लें तो यह भारत के चिरसंयम के आदर्श के अनुकूल होगा। वे इस बात को न भूलें कि नवीन-युग का श्रीगणेश हो गया है। भारत के प्राचीन धर्म, प्राचीन आदर्श का नवविकास आरम्भ हो गया है। इस विकास-प्रवाह को रोकने में संसार की कोई शक्ति अब समर्थ नहीं हो सकती। जिन भाइयों के रूप में इस आदर्श की विजय हुई है, उनसे भी हम यह कह देना चाहते हैं कि वे माया की लीलाओं के भुलावे में आने से अपने को बचावें। मृत्यु के समय शैतान की सूरत अधिक मनोमोहिनी हो जाती है। रावण और सहस्रार्जुन बनकर दशमुखों और हज़ारबाहुओं से न लड़ें। बल्कि राम बनकर एक मुख और दो

भुजाओं से सव्यसाची बनकर लड़ें। यह जीवन रण-भूमि है। धर्म और अधर्म का, पाप और पुण्य का, ईश्वर और शैतान का, संग्राम इसमें निरन्तर होता रहता है। हमारा राजनैतिक संग्राम, हमारा स्वराज्य-युद्ध, इसी आन्तरिक रण का एक स्थूल रूप है। संग्राम जीवन का धर्म है। संग्राम के बिना जीवन नीरस है, निस्तेज है। सजीव आत्मा, वीरआत्मा, जीवन की कठिनाइयों की ललकार पर अधिक जीवन पाती है; अधिक स्फुरण पाती है। ईश्वर को यह निश्चय करा दो कि उसका काम आपके हाथों सुरक्षित है। भारत का यह विश्वास न डिगने पावे कि उसके आदर्श को आपने पहचान लिया है, आप उस पर मुग्ध हो चुके है—उसपर अपने को न्यौछावर करने के लिए आप सर्वदा तत्पर हैं।

---

[२]

हिंसा और अहिंसा

कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध हृदय के विकास से, अथवा मन की वृत्तियों के सुसंस्कारों से जितना है उतना बुद्धि-वैभव से नहीं। जैसे सत्य, अहिंसा अथवा प्रेम ये बातें ऐसी हैं जिन्हें दलील या बुद्धि के चमत्कार के द्वारा कोई किसी को अच्छी तरह नहीं समझा सकता। जिन्होंने इनको अपने जीवन का धर्म बना लिया है, जो इनके अनुसार जीने का प्रयत्न करते हैं उनको बिना दलील के ही इनके लाभों का आनन्द और सुख मिलता रहता है और ऊपर-ऊपर देखने से जो हानि या महा-संकट मालूम होता है उससे वे विचलित नहीं होते। यदि शक्कर की मिठास कोई किसी को समझाने लगे तो यह जिस प्रकार कठिन है उसी प्रकार उससे बढ़-कर कठिन है सत्य, प्रेम या अहिंसा के मर्म और स्वाद को समझा देना। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की गति इनमें होती

जाती है और वह जैसे-जैसे इनके अनुभव में आगे बढ़ता जाता है, तैसे-तैसे इनके रूप के सम्बन्ध में उसकी धारणायें अधिक व्यापक, सूक्ष्म और गहरी होती चली जाती है और उन तमाम अवस्थाओं को पाठकों के सामने खोल-कर रख देना मनुष्य की वाणी और लेखनी की मर्यादा और शक्ति के बाहर हो जाता है। फिर भी बुद्धि-प्रधान मनुष्य तो उन्हे बुद्धि के ही द्वारा समझने की चेष्टा करता है और समझाने वाला भी उन्हें अपनी बुद्धि के ही अनु-सार समझा सकता है; वह यदि इसमें पूर्ण सफल नहीं होता है तो यह सत्य, अहिंसा या प्रेम का दोष नहीं है, उनके गुण, महत्ता या सौंदर्य की कमी नहीं है, बल्कि मनुष्य के अपने सामर्थ्य की मर्यादा का सूचक है। अस्तु।

सत्याग्रहाश्रम साबरमती में एक रोग-पीड़ित महा-व्याकुल गाय के बछड़े को ज़हर की पिचकारी लगाकर मार डालने के प्रश्न पर हिंसा-अहिंसा का भारी विवाद छिड़ गया है। इस सम्बन्ध में महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये हैं उन्हे सुनकर कितने ही अहिसावादी भी बड़े चक्कर में पड़ गये हैं, अहिसा-सम्बन्धी उनकी पुरानी धारणाओ को गहरा धक्का पहुँचा है और महात्माजी के फलितार्थ उनकी समझ मे ठीक-ठीक नहीं आ रहे हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है। महात्माजी तो उन पुरुषो में हैं जो अपनी धारणा के अनुसार अपने विचारों को निःसं-

कोच और निर्भय होकर प्रकाशित करते हैं और उनमें ग़लती मालूम होने पर एक बच्चे की सरलता के साथ तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति रोष और कटूक्तियों से काम लेने में कोई लाभ नहीं है। उन्हें तो अपने विचारों और युक्तियों द्वारा अपने मन्तव्यों की सत्यता समझाने की चेष्टा करनी चाहिए।

वर्तमान विवाद में समझ लेने लायक़ बातें सिर्फ़ दो हैं—(१) अहिंसा का मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है; (२) प्राण-हरण का अहिंसा में स्थान है अथवा नहीं, है तो कितना और किन-किन अवस्थाओं में ? कुछ मित्रों ने इसके सम्बन्ध में मुझे भी लिखा है, मुझसे चर्चा की है और एकाध पत्र में मेरा ज़िक्र भी किया है, अतएव इस सम्बन्ध में अपनी धारणा प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।

मेरी समझ में अहिंसा की सीधी व्याख्या यह है—अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुँचाना; मनुष्यता और पशुता में, मानव-भाव और पशु-भाव में मैंने यही विभाजक-रेखा, यही मर्यादा समझी है। अर्थात् मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति उतना ही अधिक मनुष्य है, उसमें उतना ही अधिक मानव-भाव है जितना अधिक वह अपने लाभ और सुख के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाता हो। और वह उतना

ही अधिक पशु है या उसमें उतना ही अधिक पशुभाव विद्यमान है जितना कि वह अपने लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाता हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अहिंसा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—

(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो, और (२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुँचता हो।

बछड़े को ज़हर देने में अहिंसा की इन दोनो शर्तों का पूरा-पूरा पालन हो जाता है (१) उसके मारने में महात्माजी का या आश्रमवासियों का कोई स्वार्थ-भाव न था और (२) न केवल उसके शरीर या मन या आत्मा को कष्ट नही पहुँचाया गया, बल्कि उसके कष्ट की वेदना और व्याकुलता का अन्त कर दिया गया, उलटा उसे सुख पहुँचाया गया।

अब रहा यह प्रश्न कि आखिर यह प्राण-हरण तो हुआ ही। और आगे चलकर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण से बढ़कर कष्ट और हिंसा दूसरी क्या हो सकती है? यहाँ हमको यह सोचना चाहिए कि अहिंसा के जिस मूल स्वरूप को मानकर हम चले है वह हमें कहां ले जाता है। क्षण-भर के लिए हम इस बात को भूल जायं कि आज तक हम अहिंसा के नाम पर किस चीज़ को मानते चले आये है और उसके सम्बन्ध में किस ग्रन्थ में क्या लिखा है। अहिंसा

में मुख्य बात है कष्ट न पहुँचाने की। अब यदि प्राण रखने से कष्ट अधिक पहुँच रहा है और प्राण-नाश से कष्ट का अन्त हो जाता है तो एक अहिंसक की अन्तरात्मा ऐसे समय क्या कहेगी और उसे क्या करने की प्रेरणा करेगी ? उत्तर स्पष्ट है, जिससे कष्ट का अन्त हो वही करो। और यही महात्माजी ने किया है।

इस पर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण स्वयं ही एक महाकष्ट देने की क्रिया है अतएव घोर हिंसा है। इस पर महात्माजी का कहना यह है कि मृत्यु तो, जन्म की तरह, प्रकृति का एक सामान्य नियम है। हम, भारतवासियों, ने ख्वामख्वाह उसे एक हौवा बना रक्खा है। हाँ, अपने या अपने समाज के लाभ के लिए जब किसी का प्राण-हरण या जीवन-नाश किया जाता है तब वह दोष अवश्य है और तब वह हिंसा ज़रूर है। पर यदि उस प्राणी के लाभ के लिए, उसकी पीड़ा दूर करने के लिए प्राण-हरण किया हो तो वह अहिंसा है, यदि हमारे अपने लाभ के लिए किया गया हो तो वह हिंसा है। हिंसा और अहिंसा का निर्णय करते समय हमें सदा-सर्वदा यह बात अपने ध्यान में रखनी चाहिए कि यह हम किसके स्वार्थ या लाभ के लिए कर रहे हैं।

यहाँ शंकाकार कहते हैं कि फिर तो अहिंसा में कृति नहीं भावना ही सब-कुछ रही। और जब भावना की ही

शुद्धि का विचार है तब समाज को कष्ट पहुँचानेवाले पशुओं और आततायी मनुष्यों का वध करना क्योंकर हिंसा कहा जा सकता है, जब कि भावना बिल्कुल शुद्ध है और जब कि लोक-हित ही हमारा परम उद्देश है? इसका उत्तर यह है कि अहिंसा में भावना की शुद्धि तो सर्वत्र अनिवार्य है। और भावना-शुद्धि का अर्थ लोक-हित नहीं बल्कि वध्य माने जाने वाले प्राणी को कष्ट न देने का भाव है। भाव-शुद्धि के साथ कृति भी अहिंसक होनी चाहिए। कृति की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि भाव की शुद्धता। मार डालने की क्रिया, आजतक की धारणा के अनुसार,शुद्धता की परिभाषा में नही आसकती। सो यदि आजकल की धारणा को ही निर्भ्रम और ठीक मान लें तो फिर यह कह सकते हैं कि सिर्फ ऐसे ही प्रसंगों पर कृति की अशुद्धता अपवाद मानी जा सकती है, क्योंकि अहिंसा के मूल स्वरूप के अनुसार वह हिंसा नहीं कही जा सकती। अब यह दूसरी बात है कि हिंसा के एक दोष होते हुए भी हमें, जबतक जिन्दगी है, लाचार होकर कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है; पर इसलिए हम उसे अहिंसा या निर्दोष नही कह सकते। हां, क्षम्य और अक्षम्य हिंसा ये दो भाग तो किये जा सकते हैं, पर हिंसा, अहिंसा में किसी प्रकार नही खप सकती।

इसी तरह समाज के लाभ के लिए यदि किसी पशु

या मनुष्य का बध करना, या उसे कष्ट पहुँचाना अनिवार्य हो गया हो तो उसे हम क्षम्य-कोटि की हिंसा गिन लें, यह तो शायद हो सकता है, पर उसे अहिंसा तो किसी तरह नहीं कह सकते। फिर सामाजिक दृष्टि से पशुवध से मनुष्य-वध ज्यादा भयंकर और ज्यादा सदोष है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान और हृदयवान् है, इसलिए अनेक प्रकार के प्रभावों का असर उस पर हो सकता है और फल-स्वरूप उसके सुधार की बहुत आशा रक्खी जा सकती है। अतएव अहिंसा में कोरी भावना-शुद्धि को अपने मतलब की बात समझ-कर यदि कोई भाई उससे समाज की रक्षा के लिए मनुष्य-बध को जायज्ञ और अहिंसात्मक मानने और समझने लगे तो मेरी राय में वह अपनी समझ के साथ अन्याय करेगा और आत्म-वञ्चना के दोष से लिप्त होगा।

अन्त में पाठकों से यही निवेदन है कि वे उतावले और आपे से बाहर होकर नहीं, धीरज और शान्ति के साथ पूर्व-निश्चित धारणाओं से मुक्त होकर, महात्माजी की युक्तियों पर विचार करें। उनमें उनको बहुत बल दिखाई देगा।

---

[६]

मनुष्यता और पशुता

मनुष्य विकास-मार्ग में पशु से कई दर्जा आगे बढ़ चुका है। पशु में भावना और तर्क-शक्ति की बहुत थोड़ी ही झलक पाई जाती है। पशु में प्रेम, रक्षा और दया के भाव हैं तो परन्तु वे उनके आत्मजों तक, कुछ ही काल के लिए मर्यादित हैं। ❀ मनुष्यों में बुद्धि और हृदय के विवेक, सारासार-विचार, कर्त्तव्यपालन बुद्धि, क्षमा, उदारता, दया, प्रेम, तितिक्षा, संयम, शान्ति आदि जिन-जिन गुणों का जितना विकास हुआ है उतना पशुओं में नहीं। इसलिए पुरुष पशुओं से श्रेष्ठ माना गया

❀ बिलकुल ऐसी ही बात नहीं है। एक कुत्ता अपने स्वामी की रक्षा में अपनी जान तक दे सकता है। मनुष्य और पशु में अन्तर यह है कि मनुष्य उदाहरणों और अनुभवों की तौल एवं विवेक के द्वारा निश्चय करता है और पशु केवल स्वभाव और प्रकृत प्रेरणा (instinct) के कारण वह काम करता है। —सं

है। मनुष्य के उन्हीं भावों की बदौलत आज हम मनुष्य के यहाँ कुटुम्ब, समाज, राज्य, व्यवस्था, संगठन, सहयोग आदि पाते हैं। मनुष्य चाहे कितना ही गिर जाय, वह पशु-कोटि में कदापि नहीं पहुँच सकता। हाँ, यह सच है कि कभी-कभी कुछ-कुछ बातों में जैसे दुर्व्यसन, व्यभिचार, चोरी और हिंसा-काण्ड में मनुष्य पशु को भी शर्मिन्दा कर देता है। फिर भी वह पशु नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें भूलों से सबक़ सीखने की, पापों का प्रायश्चित्त करने की, अपनी आत्मा का सुधार करने की जो प्रवृत्ति या शक्ति होती है, वह पशु में नहीं पाई जाती। इस अन्तर को न तो हम भुला सकते हैं न इसके महत्त्व की उपेक्षा की जा सकती है। १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में इसी भेद को समझकर महात्माजी ने अहिंसा–वृत्ति का व्यापक प्रयोग किया था और इसी नींव पर उसकी विजय का दारोमदार था। और यही नीति इस बार के सत्याग्रह-आन्दोलन की जान थी।

फिर भी कुछ लोग इस मत का प्रतिपादन करते जा रहे हैं कि अहिंसा मनुष्य के स्वभाव के विपरीत है। स्वयं कष्ट सहकर दूसरे के मनुष्यत्व को जाग्रत करना आत्म-घात है। इस पद्धति से हम स्वयं अपनी हानि करते हैं और प्रतिपक्षी को अपनी सज्जनता से बेजा लाभ उठाने का मौक़ा देते हैं। वे कहते हैं कि कष्ट-सहन और आत्म-बलिदान की

इस विधि से सरकार पर कुछ भी दबाव नहीं पड़ रहा है। उलटा हम अपने कितने ही कार्य-कर्त्ताओं की सहायता से वंचित हो गये। चतुराई और बुद्धिमानी तो इस बात में है कि शत्रु का अधिक से अधिक नुक़सान हो और हमारा कम से कम। शत्रु को और उसके सैनिकों को क़ैद करना तो एक ओर रहा—यहाँ तो उलटे हमारे ही सैनिक और सेनापति सब से पहले जेल जा बैठते हैं। और शत्रु तो अपने घर में उसी तरह सुरक्षित है, नहीं अधिक बलवान हो गया है। यह संसार के आजतक के अनुभव के ख़िलाफ़ है। इतना ही नहीं देश से इतने कष्ट-सहन और आत्मोत्सर्ग की आशा और आग्रह करना कि जिससे यह सरकार अपनी कुचाल छोड़कर सीधी राह पर आ जाय, मनुष्य के स्वभाव-धर्म के विरुद्ध है। सरकार तो एक यंत्र है। यन्त्र को कहीं आत्मा होती है? इस सरकार से अपने पापों के प्रायश्चित्त या आत्मा के सुधार की आशा करना पक्की वेश्या से पतिव्रता होने की आशा करना है।

इन विचारों से कोई भी सच्चा सहयोगी सहमत नहीं हो सकता। हाँ, ऐसे भले विचार रखनेवालों की शोचनीय अवस्था पर सहानुभूति अवश्य हो सकती है। इसमें पहली भूल जो लोग करते हैं यह है कि वे पशु और मनुष्य के पूर्वोक्त अन्तर को भुला देते हैं। दूसरे मनुष्य को पशु मानना अर्थात् पशु की तरह उसे आत्म-सुधार शक्ति से ही हीन

मानना, मनुष्य जाति के प्रति अक्षम्य अपराध है। यदि हम स्वयं अपनी भूलों का सुधार करते हैं, अपने पापों पर पश्चात्ताप करते हैं तो हम यह मान ही नहीं सकते कि संसार के किसी मनुष्य में यह शक्ति नहीं है—या नष्ट हो गई है। हाँ, एक समय ऐसा आता है जब पापी मनुष्य की यह शक्ति उस पाप के अमित बोझ से इतनी दब जाती है कि उसका रहना न रहना बराबर हो जाता है; पर वह अवस्था उसके अन्त की ही अवस्था है। कोई जल्दी सम्हल जाते हैं, कोई देर से सम्हलता है। यह तो संस्कारों पर अवलम्बित है। और जो नहीं सम्हलते हैं वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का सिद्ध नियम है।

यदि आज हमारे इतने आत्मोत्सर्ग और कष्ट-सहन से अंग्रेजी सरकार की मनुष्यता जाग्रत नहीं दिखाई देती तो हमें हताश होने या धीरज छोड़ देने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। यद्यपि मैं तो निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि इस सत्याग्रह-आन्दोलन की नैतिक शक्ति ने सरकार पर और संसार पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। सरकार चाहे एक कल-रूप हो, पर उसके विधाता मनुष्य ही हैं और विधाता अपनी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, परिवर्त्तन सब की शक्ति रखता है। यन्त्र से उसका विधाता हर हालत में श्रेष्ठ और उच्च होता है। हमारी तो यह धारणा है कि हमारे २५ हजार भाइयों और नेताओं के

और ख़ासकर महात्माजी के शुद्ध-से-शुद्ध बलिदान को यह सरकार कदापि हज़म नहीं कर सकती। यदि न कर सकी तो आत्म-सुधार के बिना अर्थात् पाप-पूर्ण साम्राज्य-पद से उतरकर श्रेयस्कर कौटुम्बिक राष्ट्र-संघ के रूप में परिणत हुए बिना, उसकी दूसरी गति नहीं। यदि कर सकी तो यह उसके शीघ्र आत्म-नाश की तैयारी होगी। मानस-शास्त्र और नीति-शास्त्र के नियम ग़लत नहीं हो सकते। इसके फल-स्वरूप ऐसा क्षोभ और आन्दोलन उठेगा कि ब्रिटिश साम्राज्य थर्रा जायगा। जिसका नमूना इस सत्याग्रह-आन्दोलन में दुनिया देख चुकी है। उस समय उसके वर्तमान पृष्ठ-पोषक ईश्वर के इजलास में मनुष्यजाति को पद-दलित करने और उसका रक्त चूसने के अपराध में कटघरे में खड़े दिखाई देंगे।

दूसरी भूल वे यह करते हैं कि वे शस्त्र-युद्ध और शान्ति-युद्ध दोनो के सिद्धान्तो और नियमों की खिचड़ी कर देते है। सिद्धान्ततः शस्त्र-युद्ध को हम मनुष्योचित नहीं मानते। मनुष्य को पशु-बल धारण करते हुए या उसका उपयोग करते हुए देखकर मनुष्यता की दृष्टि में हमारी गर्दन झुक जाती। अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे का ख़ून करना, एक-दूसरे पर अत्याचार और आक्रमण करना बुद्धि और भावनावाले मनुष्य के क़ानून में जायज़ नहीं माना जा सकता। हाँ, सत्य और धर्म-

मूलक स्वार्थ की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है पर वह मनुष्य रहकर ही उसकी रक्षा या प्राप्ति कर सकता है। जब एक ओर स्वार्थ की रक्षा करनी है और दूसरी ओर पशुता अंगीकार करनी पड़ती है, ऐसी अवस्था में सच्चा वीर अपने प्राण रहते मनुष्योचित शान्ति के साथ उसकी रक्षा करेगा। उसके लिए अपने प्राण भी गँवा देगा, पर पशुता को कभी स्वीकार नहीं करेगा। कभी अपने कमज़ोर और पतित भाई पर हाथ उठाकर अपनी निर्बलता का परिचय न देगा। शस्त्र-युद्ध अथवा कठोर सत्य कहें तो पशु-बल के युद्ध में शत्रु को अधिक-से-अधिक हानि और अपने को कम-से-कम हानि पहुँचाना वीरता का और ख़ुद बचे रहकर शत्रु को क़ैद कर लेना बुद्धिमानी का चिन्ह समझा जाता हो, परन्तु शान्ति-युद्ध में ऐसा नहीं होता। शस्त्र-युद्ध शत्रु के शरीर पर अधिकार करता है; शान्ति-युद्ध प्रतिपक्षी के मन और हृदय पर क़ब्ज़ा करना चाहता है। और यह स्वयं कष्ट सहकर ही, आत्म-बलिदान करके ही, किया जा सकता है। शस्त्र-युद्ध वाले अपने को परस्पर शत्रु मानते हैं। अतएव वे परस्पर आक्रमण, रक्तपात, को जायज़ मानते हैं; पर शान्ति-युद्ध वाले अपने प्रतिपक्षी को भूला-भटका मनुष्य—अपना ही एक भाई मानते हैं। इसलिए वे स्वयं कष्ट उठाकर अपना और दोनों का हित करते हैं। जो लोग मनुष्य को मनुष्य

मानते हैं, अपनी ही तरह दूसरे को भी भूल और पाप कर सकनेवाला और आत्म-सुधार-क्षम मानते हैं वे शान्ति-युद्ध को ही मनुष्योचित युद्ध मान सकते हैं।

भारत ने इस सिद्धान्त को व्यापक रूप से अपना कर अपने उन्नत मनुष्यत्व और परिष्कृत वीरता का परिचय संसार को दिया है और एक दिन आवेगा जब इस देन के लिए संसार को उसके चरणों पर सिर झुकाना पड़ेगा। मनुष्य-जाति के इतिहास में सामूहिक पशुता के ऊपर सामुदायिक मनुष्यता की विजय की यह पहली तैयारी है। परमेश्वर हमारे पशु-बल और पशु-भाव को दिन-दिन क्षीण करें और हमे मनुष्य के सच्चे बल और भावो को पहचानने और अपनाने में अधिकाधिक अग्रसर करें, जिससे अकेला भारत ही नही, सारी मनुष्य-जाति पशुता की अँधेरी खाई से निकलकर मनुष्यता के राज-मार्ग पर आ जाय और विकास-कक्षा मे अपने मनुष्य नाम को सार्थक करे।

---

[४]

धर्म और राजनीति

"धर्महीन राजनीति गले की फाँसी है।"

—महात्मा गाँधी।

धर्म वीर है पर कायर इसे अपनी बुज़दिली की ढाल बनाता है। धर्म निर्भय है पर डरपोक बली से अपनी जान बचाने के लिए उसकी शरण जाता है। धर्म आज़ाद है, पर ग़ुलाम उसका उपयोग अपनी बेड़ियाँ मज़बूत करने में करता है। धर्म के नाम पर, धर्म की ओट में, क्या-क्या अनर्थ संसार में नहीं होते? धर्म की दुहाई देकर एक देश दूसरे देश को चूसता है; धर्म की रक्षा के लिए आपस में तलवारें चलती हैं,-भाई भाई के ख़ून की नदी बहाता है! धर्म तो कहता, मैं लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए हूँ, सुख शान्ति के लिए हूँ, प्रेम के लिए हूँ, सत्य के लिए हूँ। पर धर्म के मतवाले

उसकी सुनें तब न ? बुरे-से-बुरे पापाचार और अत्याचार धर्म की माया के नीचे किये जाते हैं। इस उल्टी गंगा के दो फल दिखाई देते हैं—धर्म से लोगों की श्रद्धा उठ जाना और अधर्म को धर्म समझ बैठना। पहले दल में अधिकतर पढ़े-लिखे सुशिक्षित कहलानेवाले लोग हैं और दूसरे समाज में ज्यादहतर कम पढ़े लिखे या गँवार लोग। पहले दल के लोग ऊपरी गंदगी को देखकर भीतरी सार-वस्तु को भी मैली समझ रहे हैं और दूसरे दल के लोग तो उसी गटरगंगा को धर्म मानकर धर्म की विडम्बना करते हैं। एक गेरुआ पहनने वाले को, तिलक-छापा करने वाले को, ढोंगी और पाखंडी मानता है और दूसरा साक्षात् धर्म और ईश्वर का अवतार। वास्तव में देखा जाय तो धर्म तो धर्म-तत्त्वों को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने में है; तिलक, कण्ठी, छापा, भभूत, गेरुआ आदि तो उसके बाहरी चिन्ह मात्र हैं। वे केवल यह दिखलाते है कि अमुक मनुष्य धर्माचरण के किस दर्जे का साधक है।

अच्छा तो धर्म क्या है ?

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।"

अर्थात्—'जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में सुख मिले वही धर्म है।' दूसरे शब्दों में मानवी जीवन के स्वाभाविक पूर्ण विकास का जो मार्ग है, जो नियम है, उसे

धर्म कहते हैं। इसके विपरीत जो है वह सब अधर्म कहलाता है। धर्म आध्यात्मिक शब्द है, कर्त्तव्य लौकिक या सामाजिक। कर्त्तव्य धर्म का स्थूल रूप है। मनुष्य इस धर्म मार्ग पर चलने के लिए निसर्गत: स्वतंत्र है। इस आज़ादी के बिना वह एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। उसकी इस आज़ादी में बाधा डालना, उसकी स्वतन्त्रता छीनना है, प्रकृतिदेवी का अपराध करना है और मनुष्य-जाति की उन्नति में बाधक होना है। आज़ादी धर्म की सहायक है। अतएव मानवी जीवन के लिए दो बातें परम आवश्यक हैं। १—धर्म का पालन, २—पूरी आज़ादी।

इस विकास-क्रम में मनुष्य को कई स्थितियों में से गुज़रना पड़ता है। यही जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग और अवस्थायें हैं। इनमें मनुष्य जो कुछ पाता या सीखता है वही संस्कार से बना है। जिसकी संस्कृति जितनी अच्छी होती है उतना ही उसका विकास सुगम और शीघ्र होता है। पश्चिमी संस्कृति हमारे लिए इसी कारण हानिकर है कि वह धर्म-मार्ग से कोसों दूर चली गई है। उसने धर्म को राजनीति के हाथ बेंच दिया है। उसमें पशु-वृत्ति की प्रधानता हो गई है। उसकी गति पतन की ओर है।

मनुष्य समाज-शील है। जो व्यक्ति का ध्येय है वही समाज का ध्येय है। समाज की स्थिति और रक्षा तथा मनुष्य के पारस्परिक संबंधों के लिए जो नियम बनाये गये

है उन्हे नीति कहते हैं। वे व्यक्तिगत विकास के बाधक नहीं हो सकते। समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नही है। व्यक्ति और समाज के हित एक ही हैं। व्यक्ति के विकास-मार्ग से समाज का विकास-मार्ग भिन्न नहीं हो सकता। समाज की रक्षा के नियम समाज के विकास-मार्ग अर्थात् धर्म के नियमों के अनुसार हो सकते है। अर्थात् नीति धर्म को छोड़ कर नहीं रह सकती। धर्म पति है, नीति उसकी गृहलक्ष्मी है। धर्म जीवन का नियामक और नेता है, नीति जीवन को धर्म-पालन के योग्य बनाती है, धर्म की अनुसारिणी है। समाज ऐसा कोई नियम नहीं बना सकता जो धर्मतत्त्व के विपरीत हो और यदि बनावे तो व्यक्ति उसको न मानने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। क्योंकि वह नीति नहीं अनीति है।

राज्य समाज का एक अंग है। समाज का भरण-पोषण, रक्षण और शिक्षण उसका प्रधान कर्त्तव्य है। समाज ही अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार राज्य की सृष्टि करता है। वही राज्य को अपनी सत्ता का कुछ अंश प्रदान करता है। समाज के संकेत और व्यवस्था के अनुसार काम करना राज्य का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का पालन ठीक-ठीक न होने पर समाज इस राज्यसंस्था को तोड़कर दूसरी संस्था कायम कर सकता है। इसी को सरकार कहते है। अतएव राजनीति समाजनीति का एक

अंग हुई। समाज-नीति धर्म-नीति के प्रतिकूल नहीं हो सकती। अतएव राजनीति भी धर्म के शासन के बाहर नहीं जा सकती। राजनीति धर्म की सेवक है। राज्य धर्म के रक्षण के लिए है, भक्षण के लिए नहीं। वह राज्य या सरकार सबसे श्रेष्ठ है जो समाज पर कम-से कम शासन करती हो। जिस राज्य में प्रजा को यह न मालूम हो कि हम पर कोई राज कर रहा है, कुछ बोझ या दबाव हम पर है, वही राज्य सर्वोत्तम है और जिस राज्य में प्रजा पग-पग पर पीड़ित, अपमानित हो रही हो, लूटी जा रही हो वह तो नरक के समान है। उस राज्य के अधीन रहना अपने मनुष्यत्व को खोना है। वह पाप है।

आदर्श और उत्कृष्ट राज्य वही हो सकता है जिसके संचालक प्रजा के चुने हुए लोग हों, जो प्रजा के मत के अनुसार उसकी भलाई के ही लिए उसे चलाते हों। इसी को स्वराज्य कहते हैं। क्या देशी राजाओं द्वारा शासित भारत में स्वराज्य है?

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भारत धर्म को आत्म-विकास का मार्ग मानता है, लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन मानता है। धर्म के बिना न उसका जीवन है, न गति है। उसका जन्म, जीवन और मृत्यु तीनों धर्म-मय है; उसका समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, राज-नीति-विज्ञान सब धर्म की बुनियाद पर स्थित हैं—होने

चाहिए। सब का ध्येय धर्म-पालन है। वह शख्स न राज्य की सेवा कर सकता है, न धर्म की जो राजनीति को धर्म से पृथक् मानता हो। वह राजा और राज्याधिकारी अधर्मी है, जो प्रजा को झूठ बोलने पर मजबूर करता हो, जो उसके हुक्म पर प्रजा के दब जाने और डरजाने पर मूछों पर ताव देता हो। वह प्रजा अधर्मी है जो असत्य और भय के भावो को अपने हृदय मे स्थान देती हो; जो सच बात कहते हुए डरती हो और दबती हो। जहाँ धर्म है वहाँ भय और असत्य नही, और जहाँ भय और असत्य है वहाँ धर्म नही। वे पाखण्डी हैं जो धर्म के नाम पर लोगों को सच बोलते हुए रोकते हो, निर्भय रहने में खतरा बताते हो और बुजदिली पर अक्लमन्दी और दानाई का मुलम्मा चढ़ाते हो।

सा
ध
ना

[१]

सिद्धि-योग

संग्राम में विजय पाना सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलंबित रहता है। उसी प्रकार देशोद्धार का कार्य देशसेवकों के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्रायः असम्भव है। असहयोग-आन्दोलन के छिन्न-भिन्न हो जाने का एक मुख्य कारण यही है कि हम देश-सेवक कहलाने वाले सब तरह सुयोग्य न थे। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा सुन्दर कविता निर्माण कर लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नहीं पा सकता। ये भी देश-सेवा के साधन हैं; पर ये लोगों के दिलों को तैयार करने भर में सहायक हो सकते हैं, संगठन और सैन्य अथवा राष्ट्र-सञ्चालन में नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान लें कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमें किन-किन गुणों के प्राप्त करने की, किन-किन नियमों के पालन करने की

आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को बनावें।

(१) देश-सेवक में पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नहीं है, तो और अनेक गुणों के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य मे सफल नहीं हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपञ्च के लिए देश या समाज या धर्म-सेवा में जगह नहीं।

(२) दूसरे की बुराइयों को वह पीछे देखे पर अपनी बुराइयाँ और त्रुटियाँ उसे पहले देखनी चाहिएँ। इससे वह खुद ऊंचा उठेगा और दूसरों का भी स्नेह संपादन करता हुआ उन्हे ऊंचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निर-भिमानता। जो अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावतः नम्र होता है, और जो कर्तव्य-भाव से सेवा करता है उसे अभिमान छू नहीं सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और बड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में जहरीले कांटे है। इनसे उन्हें सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए। सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आपदाओं से अपने आप बचा लेते है।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-भाषिता, नम्रता और विचार-शीलता का चिन्ह है और

मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिह्वा नहीं, हृदय होना चाहिए। जिह्वा की मधुरता कपट का चिन्ह है; हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखा-पन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वयं व्यक्ति को गिराता है; अधीरता उसके काम को धक्का पहुँचाती है।

(६) दुःख में सदा आगे और सुख में सबसे पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियों को दो और अपयश का ज़िम्मेवार अपने को समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियों को हमेशा आगे बढ़ने का अवसर देना, उन्हें उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेष-हीनता की कसौटी होती है। अपने ज़िम्मे की संस्था या धन-सम्पत्ति को या पद को एक मिनट की नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियों को सौंप देने की तैयारी रखना निःस्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम ख़र्च में अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरों पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नहीं। सेवक के जीवन में कोई काम शोभा, शृंगार

के लिए नहीं होता, केवल आवश्यकता के लिए होता है। ख़र्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो।

(९) जो सेवक धनी-मानी लोगों के संपर्क मे आते रहते हैं या उनके स्नेह-पात्र हैं उन्हे इतनी बातों के लिए खास तौर पर सावधान रहना चाहिए—

(अ) बिना प्रयोजन उनके पास बैठना और बात-चीत न करना चाहिए—

(आ) अपने खर्च का बोझ उनपर डालने की इच्छा न पैदा होनी चाहिए—हुई तो उसे दबाना चाहिए।

(इ) वे चाहे तो भी बिना काम उनके साथ फर्स्ट या सेकंड क्लास में सफर न करना चाहिए।

(ई) उनके नौकर-चाकर, सवारी आदि पर अपने काम का बोझ न पड़ने देने की सावधानी रखनी चाहिए।

(उ) मान पाने की इच्छा न रखनी चाहिए—उसका अधिकारी अपने को मान लेना तो भारी भूल होगी।

(ऊ) उनके धनैश्वर्य में अपनी सादगी और सेवक के गौरव को न भुला देना चाहिए।

(ए) थोड़े मे यो कहे कि अपने सार्वजनिक कामों में सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना निजी बोझ उनपर किसी रूप मे न पड़ जाय इसकी पूरी ख़बरदारी

रखनी चाहिए। यदि उनके यहाँ किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट हो तो उसका प्रबंध स्वयं कर लेना चाहिए—इसकी शिकायत उनसे न करनी चाहिए।

(१०) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाब रखना और देना चाहिए। अपने कार्य की डायरी रखना चाहिए।

(११) घरू काम से अधिक चिन्ता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए। एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए। खर्च-वर्च में अपने और साथियों के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए। सार्वजनिक सेवा सुख चाहने वालों के नसीब में नहीं हुआ करती, इसके गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते हैं जो कष्टों और असुविधाओं को झेलने में आनन्द मानते हों, विघ्नों और कठिनाइयों का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत और मुक़ाबला करते हों। सेवक का कार्य उसके कष्ट-सहन और तप के बल पर फूलता-फलता है। सेवक ने जहाँ सुख की इच्छा की नहीं कि उसका पतन हुआ नहीं। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नहीं जीता है—कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(१२) व्यवहार-कुशल बनने की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बनने वाले को

व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपने को साधुता के चरणों पर चढ़ा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है वह साधुता के पास आकर उसका सहायक बन जाता है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज़ के दो रूप है। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहें तो कह सकते है कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अन्दर करो, साधु की। दिनचर्या रक्खो। अन्न पर नहीं, भावो पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नों, विपत्तियो, कठिनाइयों, मोहो और स्वार्थों से लड़ने में जो तप होता है वह पंचाग्नि से बढ़कर और उच्च। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूँ कि यदि तुम्हे सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल संसार के लिए देखना चाहते हो, और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नही जो साधु के लिये असम्भव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियाँ सहना तप है। इन दो बातो का संयोग होने पर दुनिया मे कौनसी बात असंभव हो सकती है?

———

[२]

शौक और सेवा

शौक और सेवा में ज़मीन आस्मान का अंतर है। शौक का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी रुचि से है और सेवा का सम्बन्ध समाज और देश की आवश्यकता से है। मनुष्य की रुचि नदी-प्रवाह के नीचे बहने वाली रेती की तरह बदलती रहती है। इसलिए शौक का भी रूपान्तर होता रहता है। आज एक बात करने की उमंग होती है, कल दूसरी बात करने की। उसके मूल में रुचि के सिवा कोई तत्व नहीं होता। समाज या देश की आवश्यकता निश्चित होती है। जबतक उसकी पूर्ति नहीं हो जाती तबतक हमें उस बात में समाज या देश की सेवा करना लाज़िमी है। शौक का अन्त अपनी ही रुचि की पूर्ति और उससे होने वाले क्षणिक सन्तोष में या असफलता की अवस्था में, चित्त-क्षोभ और दुःख में होता है।

पर सेवा का अन्त सर्वदा सुख-सन्तोषदाई होता है। सेवा निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म करने वाला शोक-हर्ष के द्वंद्व से परे है। शोक व्यक्तिगत भावना है; सेवा समाजगत। शोक से जो सेवा की जाती है वह शोक पूरा होते ही बन्द हो जाती है। सेवा के भाव से जो सेवा की जाती है वह जबतक आवश्यकता बाकी है तबतक जारी रहती है। शोक अपने लिए है; सेवा समाज के लिए।

हर समाज और देश में दो तरह के देश-भक्त हुआ करते हैं। एक को हम शौकीन देश-भक्त और दूसरे को सेवक देश-भक्त कह सकते है। शौकीन देश-भक्त अक्सर यह उज्र किया करते हैं—"साहब, यह काम हमसे न हो सकेगा। इसमें तो ये-ये झंझटें हैं। यह हमारी लगन के खिलाफ हैं।" सेवक देश-भक्त तो जिस समय देश की जो आवश्यकता होती है उसी को पूरा करने में अपना तन, मन, धन लगा देता है। वह विचार करता है मै अपनी रुचि को देखूं या देश की आवश्यकता को? देश की जरूरत ही उसकी रुचि होती है। शौकीन देश-भक्त जनता के सामने बुद्धि-भेद का उदाहरण पेश करता है; सेवक देश-भक्त अपनी एकनिष्ठ सेवा के द्वारा एकता के भाव हृदय में अंकित करता है। वीर मावले जैसे एकनिष्ठ देश-भक्त हों तो शिवाजी स्वराज्य की स्थापना करते हैं; एक छोटे प्रान्त को महाराष्ट्र बना देते है। परन्तु यदि रूसी सिपाहियों

की तरह शौकीन देश-भक्त हों तो पोर्ट आर्थर जापान के क़ब्ज़े में चला जाता है।

सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रतिष्ठा और विजय, प्रत्येक युद्ध की तरह, सेवक देश-भक्तों पर ही अवलम्बित है। इनकी संख्या जितनी ही अधिक होगी उतनी शीघ्र विजय-प्राप्ति सम्भवनीय है। देश के सामने इस समय जो कार्य है वह देश की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना देश स्वराज्य-मार्ग में एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकता। कौन कह सकता है, देश को महासभा के सदस्यों की आवश्यकता नहीं है या आन्दोलन चलाने के लिए रुपयों की ज़रूरत देश को नहीं है? खादी तो आन्दोलन का प्राण ही है। शान्ति उसकी आत्मा और एकता जीवन-शक्ति है। इनकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी यदि हम अपनी रुचि को जीत कर इनकी पूर्ति के उद्योग में अपना सर्वस्व नहीं लगा सकते तो फिर हम में और शौक़ीन देश-भक्त में क्या अन्तर रह गया? शौक़ीन देश-भक्तों से किराये के देश-भक्त अच्छे! पुरस्कार, कीर्ति या खरी भक्ति आदि के ख़याल से तो वे कम-से-कम देश की आज्ञाओं का पालन करते हैं। शौक़ीन देश-भक्त तो खुद अपने ही बनाये नियमों और प्रस्तावों के अनुसार चलने से इन्कार कर देता है। शौक़ीन देश-भक्तों की नीति बिना पेंदी के लोटे की तरह होती है। शौक़ीन देश-भक्त यदि

धनी हुआ तो आज देश के लिए कुछ धन दे देगा, कल इन्कार कर देगा। यदि स्वयंसेवक हुआ तो जबतक दिल लगा सेवा की, जब जी उचट गया बिल्ला-पट्टा सौंप अलहदा हुआ। यदि कार्यकर्त्ता है तो जबतक सनसनी भरी बातें थीं, जय-जयकार या व्याख्यानो की झड़ी थी, इशारे से काम बनता था, काम करते रहे; जब तन-तोड़ काम करने का अवसर आया, बहाव धीमा कर दिया गया, कौशल, परिश्रम, धीरज, तितिक्षा की परीक्षा का समय आया, किनारा-कशी कर गये। तरह-तरह के उज्र और बहाने पेश करने लगे। पर जो सेवक देश-भक्त है वे उसी तरह शान्त, गम्भीर नदी-प्रवाह की तरह आज भी काम कर रहे हैं। न असफलता की आशंका उन्हे सताती है, न कार्यक्रम की अव्यावहारिकता उनके रास्ते मे बाधा-रूप है, न नेताओं का कारावास उनके लिए उनुत्साह का कारण है और न भावी विजय के हर्ष से वे उन्मत्त ही हैं। वे अपने निश्चय संयम, धैर्य, और सहनशीलता के बल पर स्वराज्य की किरणें आगे आते हुए देखते है और बादलो की छाया को देखकर डगमगाते हैं। वे जानते हैं कि युद्ध के समय सेना को केवल शत्रु की सेना पर हमला ही नहीं करना पड़ता; केवल (अगर शस्त्र-युद्ध हो तो) तोपों, गोलियो और संगीनो की मार ही नही खानी पड़ती, बल्कि घायलों की सेवा, मृतको का अग्नि-संस्कार भी करना पड़ता है। मौका

पड़ने पर खाइयां खोदनी पड़ती हैं; रेल और सड़क तैयार करनी पड़ती है। क़वायद करनी और सीखनी पड़ती है। और बिना चूँ-चपड़ किये सेनापति की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। केवल इसी शर्त पर विजय की आशा हो सकती है। हर एक सैनिक के लिए वहाँ जगह नहीं रहती। युद्ध-क्षेत्र न तो चर्चा-समिति है और न फूलों की सेज है। वह तो कार्य-क्षेत्र है; आत्मोत्सर्ग का क्षेत्र है। उस क्षेत्र में विचार और विधान का कार्य, सेनापतियों के सुपुर्द रहता है और सैनिक—सच्चे सैनिक तो हाथ का काम ख़तम करके नया हुक्म पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

जब तक इस शान्ति-संग्राम के सैनिक शौक़ीन नहीं, पर सच्चे सेवक देश-भक्त नहीं होते, तबतक इस बलिष्ठ और सुसंगठित नौकरशाही को चित्त कर देना आसान नहीं है। याद रखना चाहिए कि सौ शौक़ीन देश-भक्तों की अपेक्षा एक सच्चा सेवक देश-भक्त कहीं अधिक उपयोगी होता है।

---

[३]

भय का भूत

मनुष्य निर्भय है ; पर शेर की तरह हिंस्र या क्रूर नहीं । मनुष्य अहिंसक है, पर खरगोश की तरह सिर उठाते ही चौकड़ी नहीं भरता । निर्भयता और अहिंसा दोनो उसके जन्मसिद्ध गुण है । जो निर्भय नहीं वह अहिंसा-परायण नहीं हो सकता । निर्भयता अहिंसा की पहली शर्त है, पहली सीढ़ी है । भारत को दबी बिल्ली की अहिंसा की ज़रूरत नहीं; वह गजेन्द्र की अहिंसा चाहता है । भारत अपने बच्चे-बच्चे को पुरुष-सिंह देखना चाहता है । पुरुष-सिंह निर्भय होते हैं, शूर होते है; हिंस्र , क्रूर और भयानक नहीं । हिंसा , क्रूरता , भयानकता तो पशु का धर्म है । मनुष्य को देखते ही भय नहीं , प्रेम , अभय और शान्ति का अनुभव होना चाहिए ।

पर आज मनुष्य-समाज अभी मनुष्य नाम को सार्थक कहाँ हो पाया है ? अभी तो मनुष्य नर-पशु ही बना हुआ है ।

हाँ, मनुष्यता के विकास की दृष्टि से—मनुष्य के मानसिक और आत्मिक गुणों के उत्कर्ष की दृष्टि से और देशों की बनिस्बत भारत अधिक अभिमान रखने का अधिकारी है। पर आज उसके कुछ अंगों की विकृत अवस्था देखकर हृदय सहम उठता है। आज वह गुलाम है। उसके भाग्य का विधाता सात समुद्र पार का मुट्ठीभर मनुष्य-मंडल है। आज वह इतना पौरुष-हीन कर दिया गया है कि कभी-कभी सन्देह होने लगता है कि भारत जिन्दा है या मर गया—भारत शूर-वीरों का भारत है या कायरों का। उसके कुछ अंगों में भय का इतना संचार दिखाई देता है कि इस बात पर शक होने लगता है—क्या 'अहम् ब्रह्मास्मि, और 'सोऽहम्' के तत्त्व का आविष्कार करनेवाले महापुरुष इसी भूमि में पैदा हुए थे? मनुष्य को भय केवल पाप का हो सकता है, ईश्वर का हो सकता है। पर हमारे पीछे तो भय के सैकड़ों भूत लगे हुए हैं। राज-भय, चोर-भय, लोक-लाज का भय, गुरुजनों का भय, पुलिस का भय, शस्त्र का भय, परिवार का भय, पेट का भय, दगा का भय, साहब का भय, स्वार्थ का भय—हानि का भय, मृत्यु का भय, रोगों का भय, —मतलब यह कि तरह-तरह के भय ने हमारी आत्मा को इतना कमजोर कर दिया है कि हम जीते हुए भी मुर्दे की तरह हो रहे हैं। ऐसा न होता तो कुछ सैकड़ा अंग्रेज अपनी मशीनगनों के बल पर इतने दिन तक यहां

राज्य कर पाते ? उन्होंने सबसे पहले भीतरी और बाहरी प्रयत्नों द्वारा हमें डरना सिखाया। उन्होंने हमारी जड़ काटी तो, पर वह पूरी नहीं कट सकती थी। हजारों बरसों की सभ्यता और संस्कृति को उखाड़ फेंकना मनुष्य के वस की बात नहीं। चक्र फिरा; आज इस सरकार के पापों का घड़ा भर चुका है। उतनी ही कसर है जितना कि भय हममें बाकी रहा है।..................

मनुष्य और भय दोनों परस्पर-विरोधी शब्द हैं। जो नर-नारायण का अंश है—नहीं, स्वयं नारायण ही है—उसके समीप भय कैसे रह सकता है ? भय का अस्तित्व तो अज्ञान में हैं। अरे अज्ञानी, अपने स्वरूप को पहचान। देख—सूरज को देख, यह तेरे ही प्रकाश से चमक रहा है। आग की आँच तेरे ही चैतन्य का प्रतिबिम्ब है। चन्द्र तेरी ही शान्ति का प्रतिनिधि है। अरे, तू प्रकृति का—चराचर का राजा है, राजा गुलाम नहीं। दुनिया के बड़े-बड़े बादशाह तेरे हाथ के खिलौने हैं। राम बादशाह की भाषा में तेरी शतरंज के मोहरे है। जिन शक्तियों से आज तू डरता है, जिन्हे तू भयंकर और भीषण समझता है, वे तेरी हुंकार के साथ लोप हो जायँगे। तू अपने को पहचान तो। तू देखेगा सारे संसार में तू ही तू है। सब तेरा है—सबका तू है।

क्या तू इस रहस्य को जानना चाहता है ? मनुष्य की

करामात, उसकी शक्तियों के अद्भुत् चमत्कार को देखना चाहता है ? तो निर्भयता सीख। भय भूत की तरह है। भूत को जहाँ माना नहीं कि वह पीछे लगा नहीं। भय मनुष्य-जाति का अपमान है। भय खाना और भय दिखाना दोनों मनुष्य-धर्म के विपरीत हैं। दोनों कायरता के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जो दूसरों पर भय का प्रयोग करता है उन्हें डराता है वह ख़ुद निर्भय नहीं हो सकता। उसकी आत्मा कभी नहीं उठ सकती। भय दिखाना पशुता है, भय खाना पशु से भी नीचे गिरना है।

पर आश्चर्य तो यह है कि जिसका भय हमें रखना चाहिए उसका भय तो हम रखते नहीं; पर जिसका भय हमारे पतन का, नाश का बीज है उन्हें हमने अपना मित्र बना लिया है। मनुष्य-समाज में पाप का और ईश्वर का भय आज कितना है ? दूसरे सैकड़ों भयों ने पाप और ईश्वर के भय को भगा दिया है और वहाँ अपना अड्डा जमा लिया है। मनुष्य, चेत ! तुझे आज चोरी करने का भय नहीं, भोले-भालों को ठगने का, लूटने का डर नहीं, शराब बेचने और पीने का भय नहीं, अपनी बहनों के सतीत्व भंग करने का डर नहीं, ग़रीबों को सताने का भय नहीं, झूठ बोलने, प्रतिज्ञा तोड़ने, धोका देने और बेईमानी करने का डर नहीं, अपने मतलब के लिए उन पर अत्याचार करने का डर नहीं, अरे क्या तुझे अपनी आत्मा के कल्याण का ख़याल

नहीं ? क्या तुझे सचमुच आँखें नहीं ? पर तू डरता है मिट्टी के पुतले से, लोहे के टुकड़े से, पत्थर की कंकड़ियों से, कमजोर और पापी आत्माओं से ! अरे। इनमें दम क्या है ? तू फूँक मार फूँक ? ये भूसी की तरह उड़ जाँयगे ! पर तू पहले अपने अज्ञान को छोड़ ! मनुष्यत्व को जान, उसका अभिमान रख। भय को घर में से निकाल दे। इससे तू अहिंसा के मर्म को समझेगा। तेरे हृदय में निर्मल और दिव्य प्रेम का प्रकाश होगा। संसार तुझे अपना मित्र मानेगा—तेरा चरण चूमेगा। अपनी पाशवी शक्तियों को तुझ पर न्यौछावर कर देगा।

तू स्वराज्य चाहता है ? इससे बढ़कर राज्य, प्रभुता ऐश्वर्य तुझे और क्या चाहिए ? स्वराज्य तो तेरी लीला का भ्रू-संकेत मात्र है। अपने स्वराज्य की कौन कहे, तू सारे संसार को स्वराज्य की राह दिखावेगा। जिन्हें तू शत्रु मानता है, वे तेरे शत्रु नहीं हैं। शत्रु तो तेरे हृदय का वह भय है, जिसने तुझे कायर और निर्वीर्य बना रक्खा है, जो तेरी आत्मा को पनपने नहीं देता। तू भय का खयाल छोड़ दे; संसार में तुझे कहीं भय न दिखाई देगा। तू शरीर और जीवन का मोह छोड़ दे, भय तेरे पास आने हिम्मत नहीं कर सकता। तू धन पर से प्रेम हटाले, भय स्वयं तुझसे भय खाने लगेगा। तू स्वार्थ को छोड़, यही तो भय का घर है। अपने हृदय की मलिनता को दूर कर और

भय तेरे लिए कामधेनु हो जायगा। निर्भय ही संसार में जीवित रह सकते हैं। निर्भय का ही संसार आदर करता है। निर्भय ही जग में मनुष्य हैं। भीरु को दुनिया में जीने का हक़ नहीं, वह जी भी नहीं सकता। उसकी संसार को ज़रूरत नहीं। वह भार-भूत है। इसलिए निर्भय हो।

---

[४]

उपहास !

उपहास मानसिक दुर्बलता का फल है। मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को गिराने में तभी उपहास का आश्रय लेता है जब उसके पास दलीलों का दिवाला निकल जाता है। क्षुद्रबुद्धि समाज में चाहे उपहास की कदर होती हो पर प्रौढ़ समाज में उपहासकर्त्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। किसी व्यक्ति, सिद्धान्त या संस्था का उपहास करके हम अपने अज्ञान-मूलक थोथे गर्व का परिचय देते हैं और विचारशील लोगों की दृष्टि में उपेक्षा-योग्य बन जाते हैं। कुत्सित कटाक्ष जिस प्रकार प्रतिपक्षी को परास्त करने के बजाय दुराग्रही बनाने में सहायक होते हैं उसी प्रकार उपहास नये-नये शत्रु पैदा करता है। और पुराने शत्रुओं को और पक्का कर देता है। परन्तु हम देखते हैं कि हमारे देश में कुटिल और नीच उपायों से प्रतिपक्षियों को गिराने की चाल-सी पड़ गई है। सदियों के

गुलाम देश में जो-जो दुर्गुण, जो-जो बुराइयां न आ जायँ वही गनीमत है। देव-दुर्लभ इस भारतभूमि का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि उसके कुछ सन्तान घृणित साधनों का अवलम्बन करके उसका उद्धार करने की निष्फल चिन्ता में मग्न हैं। यद्यपि यह कम सन्तोष की बात नहीं है कि नरम-गरम दल के जमाने की कटुता और विद्वेष आज महासभा में नहीं दिखाई देता तथापि कितने ही छोटे और कुछ बड़े लोग भी अभी कुटिल आक्षेपों और कटु उपहास के मोह से अपने को बचा नहीं पाते। नाम-निर्देश करके हम परस्पर अप्रियता की मात्रा को बढ़ाना नहीं चाहते। हम तो उन लोगों में हैं जो बढ़ते हुए मनमुटाव को कम करने में अपनी शक्ति खर्च करते हैं। विकारों के आवेश में अथवा पक्ष-द्वेष के फेर में पड़कर अपनी ओर से हम कोई कारण कड़ुवापन बढ़ाने के हक़ में पैदा होने देना नहीं चाहते। तथापि हम इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि महात्माजी की गिरफ्तारी के बाद से देश में जो अप्रिय चर्चा आरम्भ हुई, जाँच-समिति की रिपोर्ट के बाद जिसने तीखे आक्षेपों का रूप धारण किया और अन्त को गया-महासभा में दो दल करके जो कुटिल आक्रमणों और अभद्र उपहास में परिणत हुई उसे देखकर हमें अत्यन्त दुःख हो रहा है। कल तक जो लोग एक झंडे के नीचे कंधे से कंधा भिड़ाकर त्याग और कष्ट-सहन करते हुए अपने शत्रुओं से लड़ते थे।

आज वे आपस में एक-दूसरे का अपना शत्रु समझकर जहर उगलें और विद्वेष की आग बरसावें, यह कितने दुर्दैव, कितने परिताप और कितनी लज्जा की बात है !

महात्माजी के कारावास के बाद से हम खासकर चार बातों का उपहास प्रायः खुल्लमखुल्ला होता हुआ पाते है—सत्य, धर्म, प्रेम और अहिंसा। आध्यात्मिक और आत्म-शुद्धि शब्दों का भी अकसर मज़ाक उड़ाया जाता है; पर इन दोनों के अर्थ का समावेश पूर्वोक्त चारो शब्दों के अर्थ मे अच्छी तरह हो जाता है। हाँ, यह सच है कि इन सनातन बातों को पसन्द करने वालो की अपेक्षा उपहास करने वालो की संख्या बहुत छोटी है। तथापि जिस अज्ञान या कमज़ोरी के कारण वे लोग ऐसा करते हैं उसको दूर करने का मौका देना हम उनके प्रति अपना कर्तव्य मानते हैं।

पहिले सत्य को लीजिए। हम पूछते हैं कि झूठ बोलना भी कोई देश-भक्ति है ? छल-कपट करके कोई देश सेवा कर सकता है ? बुराई करके, बुरे रास्ते चलकर, कोई देश का उपकार कर सकता है ? मनुष्य झूठ क्यो बोलता है ? डर से—प्राण-हानि या स्वार्थ-हानि के डर से। मनुष्य छल-कपट का आश्रय क्यो लेता है ? डर—सीधे सच्चे रास्ते पर चलने से होने वाले कष्ट के डर से। भला बताइए ऐसा डरपोक प्राणी क्या देश-सेवा करेगा ?

वह तो इस सभ्य और छिपी भीरुता तथा कायरता का प्रचार देश में करके उसे उलटा कापुरुष और बोदा बनावेगा। सत्य से बल मिलता है, सत्य में वीरता है, सत्य के पास हँसते हुए बलिदान कराने की ताकत है। जिसके पास सत्य है वह सर्वदा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। जो सत्य-पालन और देश-भक्ति में विरोध देखते हैं वे देश-घात को भ्रम से देश-भक्ति मान रहे हैं।

दूसरा शब्द है धर्म। जिन नियमों का पालन करके मनुष्य आज़ाद होकर अपनी सर्वांगीण उन्नति कर लेता है, उनके समुदाय को 'धर्म' कहते हैं। धर्म स्वतन्त्रता की सड़क है; आत्म-विकास की कुंजी है। धर्म का अर्थ न समझकर, उसके मर्म को न समझ कर, उसके मर्म को जानने का प्रयत्न न करके, कुसंस्कारों के द्वारा गृहीत ग़लत सन्दर्भों के शिकार होकर हमें उसी डाल को न काट डालना चाहिए जिस पर हम बैठे हुए हैं। सच यह है कि आज धर्म की जगह, धर्म के नाम पर मूर्तिमान् अधर्म का आचरण होता हुआ दिखाई देता है। पर यह दोष धर्म का नहीं धर्म-तत्वों का नहीं, हमारा है; आचरण करने वालों का है। धर्म के आचरण को सुधारना एक बात है और धर्म की जड़ काट डालना दूसरी बात। व्यक्ति की सार्वजनिक उन्नति के लिए, समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए, धर्म वही काम देता है जो रीढ़ की हड्डी शरीर के संगठन के

लिए देती है। धर्म के आधार पर देश की उन्नति, देश की स्वतन्त्रता, स्वराज्य अवलम्बित है। भारत के पैंतीस करोड़ पुत्र पहले धर्म को पहचानते हैं फिर देश को। धर्म की अवहेलना और देश-भक्ति दोनों बातें एक साथ नहीं रह सकतीं। धर्म देश का रक्षक है और धर्म देश की सत्ता पर धर्म के लिए, जीवित रहता है। धर्म-शास्त्र में धर्म का अर्थ है आत्माराधन; राजनीति में धर्म का अर्थ है देश-भक्ति, सुशासन। समाजशास्त्र में धर्म का अर्थ है सदाचार और जन-सेवा। संग्रामशास्त्र में धर्म का अर्थ है पुरुषार्थ और आत्मोत्सर्ग। व्यापारशास्त्र में धर्म का अर्थ है सचाई और दान। शिक्षा-शास्त्र में धर्म का अर्थ है एकनिष्ठा और सद्भाव। इस प्रकार धर्म ही किसी अंश मे प्रधानरूप से और किन्हीं अंशों में गौण रूप से जीवन के प्रत्येक अंग का रास्ता और संचालक है।

अब तीसरे शब्द प्रेम पर विचार करें। हम पूछते हैं, यदि प्रेम के बल पर हमें सफलता मिल सकती हो तो क्या बुरा है? यदि अंग्रेजों के साथ प्रेम रखते हुए, केवल प्रेम का प्रयोग करते हुये हम आज़ाद भी हो सकें और एक पराक्रमी जाति के साथ प्रेम-सम्बन्ध भी बना रहे तो क्या यह अवांछनीय है? द्वेष की तरह प्रेम भी देने से बढ़ता है। द्वेष के बदले मे द्वेष और प्रेम के बदले में प्रेम मिलना प्रकृति का सिद्ध नियम है। हाँ, यह सच है कि ज़ालिम

सरकार के प्रति दलित और पीड़ित राष्ट्र के मन में प्रेम-भाव होना असम्भव और अस्वाभाविक है; पर महात्माजी ने यह कब कहा है कि इस सरकार के साथ प्रेम करो। बल्कि उन्होंने तो बार-बार कहा है कि इस सरकार के प्रति अप्रीति फैलाना मेरा धर्म है। प्रेम का प्रयोग तो वे अंग्रेज लोगों के ऊपर करना चाहते हैं जो भ्रम से उस सरकार को अच्छा समझ कर उसके हिमायती बने हुए हैं और होश ठिकाने आने पर उसको सुधारने की क्षमता रखते हैं। अतएव हमें अंग्रेज जाति और अंग्रेजी सरकार अर्थात् मनुष्य और उसके कार्य में जो स्वाभाविक भेद होता है उसे भुलाकर प्रेम-धर्म की निन्दा का पाप न कमाना चाहिए। प्रेम ईश्वर के ऐश्वर्य का दूसरा रूप है, प्रेम प्रकृति के सौन्दर्य का जौहर है। प्रेम प्रकृति का धर्म है, द्वेष प्रकृति का मैल है। प्रेम बल है, द्वेष कमजोरी। प्रेम की आँच में लोहे से भी कड़ा दिल गल जाता है और द्वेष के फूत्कारों से हमदर्द दिल भी झुलसकर नेक से बद हो जाता है। जो मनुष्य शत्रु पर भी प्रेम कर सकता है उसके चरणों पर त्रिभुवन का सारा ऐश्वर्य आ गिरता है। जो लोग शत्रु पर प्रेम-प्रयोग करना असम्भव और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत मानते हैं वे प्रकृति के नियमों का और ईश्वर के आदेशों का निरादर करते हैं। राजनीति का यदि मनुष्य के साथ कुछ सम्बन्ध है तो वहाँ प्रेम की प्रतिष्ठा हुए बिना

नहीं रह सकती। राजनीति में प्रेम को घता बताना राजनीति के पतिव्रत को भंग करना है। राजनीति को वेश्या बताकर उससे सम्बन्ध रखना और उसमें अपना गौरव मानना उतना ही प्रतिष्ठास्पद है जितना कि भद्रजनों का कुलटाओं से सम्बन्ध रखना!

अब रही अहिंसा की बात। सिद्धान्त की बात जाने दीजिए। जो लोग भारत की मौजूदा हालत में तलवार खींचकर स्वराज्य प्राप्त करना असम्भव मानते हैं और जानते हैं कि बिना हिंसात्मक संग्राम के दूसरी गति नहीं है वे भी जब 'अहिंसा' का मज़ाक उड़ाते हैं तब हम नहीं समझते कि वे देश की कौन-सी सेवा कर रहे हैं? यदि वे तलवार खींचकर स्वराज्य ले सकते हों तो शौक़ से मैदान में क़दम बढ़ावें। उनके लिए 'अहिंसा' के घूँघट में छिपे रहना सचमुच कायरता है।

'अहिंसा'—नीति के क़ायल होते हुए उसके खिलाफ लोगों को समय-समय पर उकसाना महासभा के काम में गहरी हानि पहुँचाना है। शान्तिमय बलवे के योग्य परिस्थिति पैदा करने में विघ्न डालना है। अतएव हम उन भाइयों से नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हैं कि या तो 'अहिंसा' की बात छोड़कर तलवार हाथ में लेकर अपना हौसला पूरा कर लीजिए या ईमानदारी के साथ अहिंसात्मक प्रयोग में साथ दीजिए। ऐसी अवस्था में जब अहिंसा के

[५]

मूल मन्त्र

गुलाम कौन राष्ट्र होता है ? गुलामी में फँस जाने पर भी निकलने का साहस किस राष्ट्र को नहीं होता ? कौन राष्ट्र शासको के अत्याचार को सहन करता हुआ केवल बाते बनाने में ही, जबानी हमदर्दी और खेद प्रकट करने मे ही, बार-बार कमजोरियो को क़बूल करते रहने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझता है ? पुरुपार्थ-हीन ! भारत इसलिए गुलाम हुआ है कि उसमें पुरुषार्थ नहीं है और जबतक वह काफी तादाद में अपने पौरुष का परिचय नहीं देगा तब तक वह पशुओ और कीड़ो-मकोड़ो की तरह दूसरो का भक्ष्य और भोज्य-साधन बना रहेगा।

पुरुषार्थ प्रकट होने के तीन मार्ग हैं—स्वावलम्बन, स्वार्थत्याग और कष्ट-सहन। इन तीनो में से एक के लिए भी यदि देश तैयार हो तो उसके उद्धार की आशा की

जा सकती है। स्वावलम्बन से अपने पैरों के बल खड़े होने की, स्वार्थत्याग से आगे बढ़ने की और कष्ट-सहन से सफलता पाने की ताक़त आती है। स्वावलम्बन से निर्भयता स्वार्थ-त्याग से बल, और कष्ट-सहन से सिद्धि प्राप्त होती है। ये तीनों बातें राष्ट्र के जीवन, पोषण और उत्कर्ष के लिए प्राण-रूप हैं। सत्याग्रह-आन्दोलन का कार्यक्रम इन्हीं तीनों स्तम्भों पर खड़ा किया गया है। सत्याग्रह का पूरा कार्यक्रम एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक नुसखा है। वह अपने पावों के बल खड़े होने, अपनी ताक़त बढ़ाने, हमें स्वार्थत्याग के लिए प्रेरित करने और कष्ट-सहन के लिए तैयार होने का आदेश करता है। इसलिए उसको विरुद्ध दिशा में क़दम बढ़ाना अपने पौरुष और पुरुषार्थ की दिशा से अशक्ति, परावलम्बन और आराम की दिशा में पैर बढ़ाना है। क्या कोई स्वप्न में भी ख़याल कर सकता है कि हमारी कमज़ोरियों के बने रहते हमें स्वराज्य मिलना और उसका टिका रहना सम्भवनीय है ?

क्या कमज़ोरियों को दूर करने का उपाय 'अपनी नाक को काट कर दूसरे का अपशकुन करना है ?' अपनी ताक़त को बढ़ाकर प्रतिपक्षी को अपने पैरों पर झुका लेना एक बात है, और अपनी ताक़त की उपेक्षा करते हुए हर भले-बुरे उपाय से प्रतिपक्षी को कमज़ोर करने का प्रयत्न करना दूसरी बात है। हमारे देश की ताक़त हम जनता के

अन्दर काम करके, उसे स्वावलम्बन, स्वार्थत्याग, कष्ट-सहन का पाठ पढ़ाकर, जातीय भावों से उसके हृदय को परिप्लुत करके ही बढ़ा सकते हैं। अन्य ऊपरी कार्यक्रमों से सरकार चाहे भले ही दिक़ हो जाय, या तो पागल होकर अधिक दमन अख़्त्यार करे, या ज्यादा चालाक बनकर हमें अपने जाल में फँसा ले, पर दोनों से जनता की ताकत तिल-भर भी नहीं बढ़ सकती। यदि कोई यह समझता हो कि उत्तेजना देश की ताक़त है, या जोश और उभार से देश की ताक़त बढ़ती है तो यह उसका भ्रम है। यह कहना मानों बुखार की गर्मी से या शराब की घूँटों से ताक़त बढ़ाने की आशा दिलाना है। देश में आज अहिंसा का जो सुन्दर वायुमण्डल तैयार हो रहा है उसे फिर घृणा, द्वेष, उद्वेग, असहनशीलता और अनुदारता में बदलने का मौक़ा उपस्थित होने देना सविनय भंग और शान्तिमय बलवे की आशा को, जो स्वराज्य-प्राप्ति का एक मात्र उपाय है और जिसपर ज़्यादातर भाई एकमत हैं, भंग कर देना है।

अतएव हम देश से पूछना चाहते हैं कि वह जल्दी स्वराज्य चाहता है या उसके रास्ते में काँटे बिखेरना चाहता है ? हम पुरुषार्थ की सड़क पर चलना चाहते हैं, अपना पसीना बहाकर स्वराज्य पाना चाहते हैं, या हरी घास पर चलकर स्वराज्य की तसवीर देखना चाहते हैं ?

सच्चा स्वराज्य तो शान्तिमय चलवे से ही भारत प्राप्त कर सकता है। और इसके लिए संगठन और अनुशासन के विना क़दम बढ़ाना जिस डाली पर हम बैठे हैं उसी की जड़ काटना है। संगठन और अनुशासन हमारे स्वावलम्बन, स्वार्थत्याग और कष्ट-सहन की तैयारी की परीक्षा का विषय है। यदि हमें पुरुषार्थ से प्रेम है, हम अपने पौरुष का परिचय देकर आज़ादी का स्वाद चखना चाहते हैं; यदि हमें अपने पौरुष का अभिमान है तो संगठन और अनुशासन की स्थापना करके संसार और ईश्वर को दिखा देना चाहिए कि भारत आज़ादी का भूखा है, भारत आज़ादी का आदर्श स्थापित करने का प्यासा है, भारत आज़ादी के लिए तन, मन, धन न्यौछावर करने को तैयार है। यही स्वराज्य का मूल मन्त्र है, यही पुरुषार्थ है। स्वावलम्बन, स्वार्थत्याग, और कष्ट-सहन ये तीन गुण शान्तिमय स्वराज्य-आन्दोलन के मूल-मन्त्र हैं।

---

[६]

अनुत्साह का मूल

उत्साह जीवन का धर्म है, अनुत्साह मृत्यु का प्रतीक है। उत्साहवान् मनुष्य ही सजीव कहलाने के योग्य है। उत्साहवान् मनुष्य आशावादी होता है। उसे सारा विश्व आगे बढ़ता दिखाई देता है। विजय, सफलता और कल्याण सदैव आँख में नाचा करते है। उत्साह-हीन हृदय को अशक्ति ही अशक्ति दिखाई देती है। सत्याग्रह और स्वराज्य-आन्दोलन उत्साहमय है; जीवन-मय है। उस उत्साह और जीवन को देखने के लिए हमारी आँखो में उनके सुप्त बीजो की आवश्यकता है। कुछ लोग आज इस बात की शिकायत करते है कि जनता में अनुत्साह फैल गया है; आन्दोलन ठडा पड़ गया; वर्तमान शांतिकालिक कार्यक्रम से जनता असन्तुष्ट है; उसमे कुछ परिवर्तन किये बिना, कुछ तेज दवा पिलाये बिना जनता का जोश कायम नही रहेगा। और यदि एक तरफ यही सुस्ती की हालत

रही एवं दूसरी ओर सरकार से कोई सन्तोष-जनक समझौता नहीं हो सका तो हम दोनों ओर से घाटे में रहेंगे। पर हम पूछते हैं कि ये भाव, ये विचार आपके हृदय में हैं या जनता के हृदय के हैं ? जनता का हृदय तो अनेक सुप्त भावनाओं का सागर है। उसके जिस भाव को जाग्रत करें वही हमें जाग्रत दिखाई देगा। उसके हृदय में तो स्वराज्य भी छिपा हुआ है; सोया हुआ है। हम कार्य-कर्त्ताओं का यह काम है कि उसको जगाकर उसकी प्रतीति जनता को करा दें। जनता का हृदय एक स्वच्छ आईना है। उसमें हम अपने हृदय के भावों को देख सकते हैं। जब हमारे हृदय में उत्साह होता है, आनन्द होता है, आशा होती है तब जनता भी हमें उत्साह-आनन्द-आशामयी दिखाई देती है। जब हम ही दुर्मुख होकर उसकी ओर देखते हैं तो वहाँ से भी हमें वही उत्तर मिलता है। ......
कभी-कभी सन्देह होने लगता है और वह ठीक भी है। जिस अनुत्साह और शिथिलता की पुकार मच रही है वह वास्तव में जनता के हृदय की चीज़ है या खुद कार्य-कर्त्ताओं के दिल की ? हम आत्म-वंचना तो नहीं कर रहे हैं ? अपने दिल के अनुत्साह का आरोप जनता पर तो नहीं कर रहे हैं ? अपनी ही कमज़ोरियों और कुसंस्कारों की बदौलत तो हम वर्तमान कार्य-क्रम को अनुत्साह-वर्द्धक नहीं पाते हैं ? क्या सचमुच हमारे कार्यकर्त्ताओं के हृदय

में पिछले साल-जैसा कार्योत्साह है ? क्या हमने जनता में काम करके देख लिया है,—हर तरह से जनता को समझा-बुझाकर हार गये है, और इस तरह निराश होकर ही हम सुस्त पड़ गये हैं ? क्या हमने क़स्बे-क़स्बे और गाँव-गाँव जाकर सभाये की हैं ? उनमें जनता का मत लिया है ? क्या जनता ने मौजूदा कार्य-क्रम पर अपना अविश्वास प्रकट किया है ? क्या उसने इन्कार किया है कि इस कार्य-क्रम से हमारे अन्दर निर्भयता, साहस और स्वराज्य की भावना जाग्रत नहीं हुई है ? हम प्रजा-सत्ता के नाम पर अपनी ही सत्ता का प्रयोग तो नहीं कर रहे है ? प्रजा-सत्ता के स्थान पर अपनी ही सत्ता तो चलाना नहीं चाहते हैं ? अपने ही मत को तो हम प्रजा का मत नहीं बता रहे हैं ? प्रजा-सत्ता के तत्त्वों की दुहाई देकर हम अपनी कमजोरियों और कम-तैयारी को छिपाना तो नहीं चाहते है ?

यदि हम तैयार है तो दुनिया में मुश्किल कौन बात है ? कोई बात कठिन और दुस्साध्य केवल उन्ही लोगो के लिए होती है जो या तो खुद काम करना नहीं चाहते-दूसरो से करवाना चाहते है, या उसके लिए आवश्यक कष्ट और असुविधा सहने को तैयार नहीं होते। सच्ची लगन और व्याकुलता होने पर न तो अनुत्साह ही पास आ सकता है, न असुविधा। काम वास्तव में कठिन नहीं होता है, हमारी कमजोरी और कम तैयारी उसे कठिन बना देती

है। जो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से परमात्म-पद तक प्राप्त कर लेता है उसके लिए कौन बात मुश्किल है? जो बड़े से बड़े हिंस्र, भयानक जन्तुओं को अपना सेवक बना लेता है उसका अपनी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ लेना कठिन है? यदि हमें घर-घर जाकर महासभा के सदस्य बनाना, खादी पहनना एवं उसका प्रचार करना और पहनना, आपस में प्रेम और एकता बढ़ाना तथा गाँवों का संगठन कठिन मालूम होता है तो यह कहने में क्या जान है कि हम देश के लिए मरने मारने को तैयार हैं? छोटी-सी परीक्षा के लिए जो हिचकते हैं उनके लिए कठिन परीक्षा में पास होने की बड़ी-बड़ी बातें करना क्या स्वयं अपने को और दूसरे को धोखा देना नहीं है?

समय नाज़ुक है, टेढ़ा है; देश के जीवन-मरण का प्रश्न है। राष्ट्रों के इतिहास के बनने-बिगड़ने का समय है। हमारा बल, वीर्य, पुरुषार्थ और स्वतंत्रता-प्रेम कसौटी पर कसा जा रहा है। घबड़ाने, पीछे क़दम हटाने, दबने और बोदापन दिखाने से राष्ट्र का सर्वनाश हो जायगा। मनुष्य होते हुए अनुत्साह रखना और उसकी शिकायत करना इस धर्म-युद्ध के अवसर पर हमें लज्जाजनक मालूम होना चाहिए। इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हमारी मातायें और बहनें इस कड़वी दवा को पीने के लिए तैयार हैं। वे आगे बढ़ रही हैं, और हम मूछोंवाले मर्द

बनकर अनुत्साह और शिथिलता के गीत गाते हुए समय गवाँ रहे हैं ! अतएव भाइयो, सोचो, अपनी आत्मा को टटोलो, उसको कमज़ोर न होने दो । अपनी कमज़ोरियों और अनुत्साह का आरोप जनता पर न मढ़ो । यदि हमारी देश-भक्ति हमें बातें बनाने, विरोध बढ़ाने, आराम करने की ही सलाह देती है तो बेहतर है कि हम स्वराज्य से निराश हो जायँ । यदि हम स्वराज्य के लिए मतवाले हैं, आज़ादी के भूखे हैं तो हमारे रास्ते को दुनिया की कोई भी रुकावट, कोई विघ्न-बाधा, कोई संकट और असंगल नहीं रोक सकता । जो शक्ति उसे रोकने का प्रयत्न करेगी वह खुद आप ही नष्ट होगी और हमारा एक-एक कदम आगे ही बढ़ेगा ।

---

[७]

बदला या स्वराज्य ?

गई हुई आज़ादी को प्राप्त करने और गले पड़ी गुलामी को दूर करने का एक ही अचूक उपाय दुनिया में है—युद्ध। आज तक आम तौर पर हम संसार के इतिहास में सशस्त्र युद्धों—शारीरिक युद्धों को ही पाते हैं। पर भारत की वर्तमान अवस्था में शस्त्र-युद्ध की कल्पना तक करना महज़ नादानी है। इसलिए महात्मा गाँधी की प्रतिभा ने हमें युद्ध का एक दूसरा उपाय बताया है। वह है अहिंसात्मक सत्याग्रह। शस्त्र-युद्धों में प्रतिपक्षी एक-दूसरे के शरीर पर प्रहार करते हैं, फलतः दोनों का जोश और आवेश बढ़ता है। दोनों अधिकाधिक प्रहार की तैयारी करते हैं। अधिकाधिक नाशक सामग्री जुटाते हैं। अन्त को एक की हार होती है और एक की जीत। जो हारता है वह फिर जीतने की इच्छा से युद्ध की तैयारी करता है। इस तरह सारा जीवन युद्ध और

विनाशक सामग्री तैयार करने में ही बीतता है। पश्चिमी संसार में सप्तवर्षीय युद्ध, शतवर्षीय युद्ध और पिछला पंचवर्षीय धन-जन- संहारक महाभारत प्रसिद्ध ही है। सारा संसार शस्त्र-युद्धों का, रक्तपात का, धन-जन-संहार का खासा अखाड़ा बना हुआ है। और कुछ लोग कहते हैं—"यह स्थिति अनिवार्य है; यह राष्ट्रों के उत्कर्ष के लिए है; युद्ध के बाद ही शान्ति स्थापित होती है।" वे ऐसे धन-जन-शान्ति-नाशक आसुरी युद्धों को ईश्वरीय देन समझते हैं; और उस सुदिन की बाट जोहा करते हैं। पर वे यह नहीं सोचते कि जिसके मूल में प्रतिहिंसा है, जिसका रूप रक्तपातमय है, अशान्तिमय है, जिसका अन्त फिर प्रतिहिंसा की वृद्धि में होता है, उससे समाज को सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है ? 'बोये बीज बबूर के, आम कहाँ ते होय ?'

पर अहिंसात्मक सत्याग्रह-संग्राम का रूप शस्त्र-युद्ध से बिलकुल भिन्न है। वह प्रतिपक्षी के शरीर पर शरीर या शस्त्र-द्वारा प्रहार नहीं करता, न उसे चोट पहुँचाने की इच्छा ही करता है। ऐसा प्रहार करना प्रतिपक्षी को उत्साहित करना है, सहायता देना है, अतएव प्रहार न करके पहले तो हम उसको हमपर आक्रमण या प्रहार करने से अनुत्साहित कर देते हैं, फिर जिस-जिस रूप में हमारे ऊपर उसका आधार है, वह सब हम उससे खींच लेते हैं

इससे वह अपने आप पंगु हो जाता है, और जब उसके प्रहारों का उत्तर हम क्षमा और दया के द्वारा देते हैं तब उसकी पशु-वृत्ति दबती है, और मनुष्यता जागृत होती है। बस, वह सदैव के लिए हमारा मित्र हो जाता है। यह प्रयोग सामुदायिक रूप से संसार के लिए बिलकुल नया है। भारतवर्ष को इस बात का बड़ा अभिमान है कि इस शान्तिमूलक, शान्तिमय और शान्तिदायी प्रयोग का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ है। प्रयोगावस्था से ही युद्ध-पीड़ित और युद्ध-क्लान्त देश चातक की तरह उसकी ओर देख रहे हैं। अब भारतवर्ष के धैर्य, साहस, उत्साह, निश्चय और सहनशीलता पर उसकी सफलता अवलम्बित है।

हमारी वर्त्तमान सरकार तो सम्पूर्णतः हमारे सहयोग पर जी रही है। हमारी कमज़ोरियों ने, हमारी भूलों ने, इसे यहाँ जमने दिया और फूलने-फलने दिया। हमारी कमजोरियों के बलपर वह अबतक जी रही है। न तलवार लेकर वह यहाँ आई, न तलवार के बल पर उसने भारत को जीता, न तलवार के बल पर वह क़ायम है। वह तराजू लेकर आई; हमारी फूट पर और फलतः हमारे सहयोग पर उसने हमारे घरों में पाँव पसारे, हम पर जादू डाला; हम भुलावे में आगये, उसके हो गये। अब सिर धुनते हैं, पछताते हैं—'रे इसने नामर्द बना डाला!' पर साथ ही जान में और अनजान में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से,

अपने सहयोग के द्वारा उसकी जड़ को जीवन से सींच रहे हैं। जिन्हें तलवार खींचने की चाह है, उनके पास चाकू भी नहीं। और सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि उसके लिए मर-मिटने का हौसला भी उनके पास नहीं। इसलिए हम कहते हैं कि मरना सीखो। मारना आसान है, मरना मुश्किल है। जो मरना नहीं जानता वह मारना भी नहीं जान सकता। जिसे मरना याद है उसकी ओर दुनिया में कोई आँख उठाकर नहीं देख सकता। उसे कोई पल भर गुलामी में नहीं रख सकता। जबतक हम इस सरकार की तलवार से, मशीन-गन से डरते रहेंगे, तबतक हम इसके साथ जरूर सहयोग करते रहेंगे। जबतक हम यह समझते रहेंगे कि शस्त्र-बल ही एक मात्र और सर्वोपरि बल है, मारना ही बहादुरी है, तबतक हम जरूर उसकी तलवार से डरते रहेंगे। पर जिस दिन हम यह रहस्य समझ लेंगे कि इस सरकार की जड़ हमारा सहयोग है, तलवार नहीं; जनता के नैतिक बल की सहायता है, पशु-बल नहीं, उसकी मशीनगनें और हवाई जहाज़ तिनके के बराबर हो जायँगे। उसी दिन उसके स्कूल, उसकी अदालतें, उसकी कौन्सिलें हमारे लिए ताश के घर हो जायँगे उनमें जाना तो दूर, उनकी याद तक हमको अपमान-जनक मालूम होगी। सरकार से सहयोग वही कर सकते है जो स्वावलम्बन से, आत्म-सम्मान से और स्वातन्त्र्य-प्रेम से हीन हैं। आजादी

का सच्चा प्रेमी तो खुद मर मिटेगा; अपने बाल-बच्चों को बलि-वेदी पर चढ़ा देगा; अपने घर-बार को स्वाहा कर देगा, पर एक दिन भी जुल्मी सरकार के साथ सहयोग न करेगा। हमारे आन्दोलन का उद्देश्य बदला लेना नहीं, दण्ड देना नहीं, विघ्न-बाधा डालना नहीं, जहालत नहीं, गुण्डापन नहीं, बे-ईमानी नहीं। हमारे आन्दोलन का अर्थ है, गौरव के साथ रहना, अपनी सहायता खींच लेना, प्रति-पक्षी के साथ सज्जनता का, नीति का बर्ताव करना, उसके बुरे कामों से असहयोग करते हुए उसे अपने विश्वास के अनुसार काम करने का हक़ क़ायम रखना; उसे समझाना-बुझाना कि 'भाई यह पाप है, इसे न करो',—आवश्यकता पड़ने पर स्वयं कष्ट उठाकर उसकी आँखें खोलने का प्रयत्न करना। हमारे सत्याग्रह-आन्दोलन का यह मतलब हरगिज़ नहीं कि हम उसके रास्ते में रोड़े डालें, काँटे बखेर दें, उसे गंदा कर दें, ख़ुद खड़े हो जायँ, लेट जायँ इस तरह उसे तंग करके दिक़ करके उसे रास्ते पर न चलने के लिए मजबूर करें। यह तो दबाव है, अतएव हिंसा है; उसकी काम करने की आज़ादी छीन लेना है। पिछले असहयोग-आन्दोलन में कलकत्ता के जिन विद्यार्थियों ने रास्ते में लेट कर दूसरे विद्यार्थियों को परीक्षा-भवन में जाने से रोका था, उनका कार्य सिद्धान्त के अनुसार असमर्थनीय माना गया था। इसी प्रकार इस बार के आन्दोलन में ज़बर्दस्ती पिकेटिंग द्वारा

दूकानदारों का, ग्राहकों का रास्ता, उनकी इच्छा के विरुद्ध रोक कर जो कुछ किया गया, उसका भी समर्थन सिद्धान्ततः नहीं किया जा सकता।

हम यदि मतदाताओं से यह कहें कि भाई ये जालिम सरकार से सहयोग करने जा रहे हैं; इन्हे मत न दो या कौन्सिलों के उम्मेदवारो को समझावे, कि यह बुराई न करो, इसके लिए यदि वे हमपर प्रहार करें, आक्रमण करें, तो भी उसे सहकर उनको उस रास्ते जाने से मना करें तो यह सत्याग्रह का मार्ग है। मना करना, समझाना-बुझाना, उनके लिए उनके दिये कष्टों को सहन करना उचित है। उनके रास्ते में विघ्न-बाधा उपस्थित करना उन्हे रोकना, सत्याग्रह की मर्यादा के विपरीत है। क्योंकि इस प्रकार की नीति के अन्दर विद्वेष, बदला और दबाव है। भारत स्वराज्य के लिए आतुर है। स्वराज्य की प्राप्ति तो शान्तिमय बलवे के द्वारा, सविनय-भंग के द्वारा ही हो सकती है, जो स्वराज्य-संग्राम का एक और अन्तिम अंग है। रचनात्मक कार्यक्रम इसी शान्तिमय बलवे की तैयारी के लिए देश के सामने उपस्थित किया गया है। हमारी जिन कमजोरियो के बलपर यह सरकार टिक रही है उनमे सब से बड़ी कमजोरी है हमारी आपस की फूट। इसलिए हम से कहा गया है कि सब जातियो मे एकता स्थापित करो। स्वदेशी धर्म को भूलकर हमने विदेशी व्यापार और उसके साथ

ही विदेशी ज़ुल्मी सरकार को अपने हृदय में स्थान दिया। अब खादी पहने बिना उसकी जड़ नहीं कट सकती। हमारे संगठन और अनुशासन के अभाव से अंग्रेजों की यहाँ दाल गल गई। अब हमें महासभा की छत्रच्छाया में अपना संगठन और अनुशासन मजबूत करना चाहिए। तभी हम राष्ट्र का बल बढ़ा सकेंगे। और विदेशी और आसुरी सत्ता को हटा सकेंगे। बताइए, इन कमज़ोरियों को दूर किये बिना आप शान्तिमय बलवे के लिए कैसे तैयार हो सकते हैं। माना कि यह काम श्रम-साध्य है, हमारे आराम-तलब मिजाज के लिए कठिन है, पर क्या हम उससे मुँह मोड़ सकते हैं ? यदि मोड़ सकते हैं तो फिर स्वराज्य का नाम लेकर उसको, अपने देश को, और अपने मनुष्यत्व को लज्जित करने के लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए। स्वराज्य का रास्ता तो यही है। इससे हटकर यदि हम चलते हैं तो सरकार को परेशान करने की इच्छा भले ही थोड़ी-बहुत तृप्त हो जाय, स्वराज्य के दर्शन तो दूर ही रहेंगे। हम भारत से यह पूछते हैं कि वह बदला चाहता है या स्वराज्य ? हम उसे सावधान कर देना चाहते हैं कि वह बदले की नीच भावना पर स्वराज्य की शुद्ध, उच्च और सुखद भावना को क़ुरबान न कर दे। यदि वह बदला ही चाहता हो तो वह इस प्रकार अपने को अपमानित करके उसका मूल्य कम न करे; अपने उच्च जातीय जीवन को

[८]

भावी स्वप्न

भूत काल बूढ़े लोगों का, वर्तमान काल कर्मवीरों का और भविष्यत्काल नौजवानों का है। भूतकाल के अनुभव, वर्तमान के उत्साह और भविष्यत् की आशा का जबतक संयोग नहीं होता तबतक कोई महान् कार्य नहीं होता। कोई मनुष्य जबतक बूढ़ा, प्रौढ़ और जवान नहीं हो सकता तबतक वह पुरुषार्थी नहीं हो पाता। बूढ़े की तरह भूत काल के अनुभवों पर शान्त चित्त से विचार किये बिना, नौजवानों की तरह भविष्य के स्वप्नों से हृदय को आशामय बनाये बिना, प्रौढ़ की तरह वर्तमान के कर्तव्यों का निश्चय नहीं कर सकता और न वह उत्साह-पूर्वक अपने कार्य-क्रम को ही पूरा कर सकता है। यह त्रिवेणी संगम कार्य-सिद्धि का मूलमन्त्र है।

भूत-काल जिसे स्वप्न मानता है, वही वर्तमान के लिए सम्भवनीय है और भविष्य के लिए तो प्रत्यक्ष ही है। बूढ़े

लोग यदि युवकों की महत्वाकांक्षाओं को स्वप्न समझें तो यह उनकी भूल है। युवक यदि बूढ़े लोगों के अनुभवों को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखें तो यह उनकी भूल है। प्रौढ़ यदि बूढ़े और जवान दोनों से मित्रता नहीं रक्खें, अनुभव और आशा दोनो की उपेक्षा करे तो उन्हें स्फूर्ति नहीं मिल सकती, उनका जीवन बेकार है। यह तो आत्मघात है। जो इन तीनो का सम्मेलन, तीनो का सामञ्जस्य अपने जीवन मे, अपने चरित्र मे, करता है, वही पुरुषार्थी कहलाता है, वही नेता होता है, वही जातियों और राष्ट्रों के भाग्य को पलट देता है।

भारत के सामने आज यही समस्या है। आज उसके जीवन मे तीनों काल लड़ रहे हैं। भूत काल कहता है, जहाँ है तहीं खड़े रहो; तैसे ही बने रहो, जो मिलता है उसे ले लो, भविष्य के 'सब्ज़बाग़' पर पागल मत बनो, यह केवल मृग-तृष्णा है। भविष्यत्काल कहता है—तू बूढ़ा है, सठिया गया है, डरपोक ! तुझे मेरे चमत्कार का, मेरी करामात का क्या पता ? चुप बैठा रह ! मेरे रास्ते मे काँटे न बखेर। वर्तमान बेचारा हैरान है। उसकी बात ये दोनो नहीं सुनते। दोनो अपनी धुन में मस्त है। इससे वर्तमान कर्तव्य मूढ़ और कर्तव्य-हीन हो रहा है। वह पुरुषार्थ की खोज मे है। पुरुषार्थी ऐसा है जो तीनो में समझौता करा दे ? दूर से एक मन्द आवाज़ तो आती है कि भारत माँ की गोदी ख़ाली

नहीं रह सकती। उसकी अंगुली पूर्व की ओर उठती नज़र आती है।

भावी स्वप्न—भारत का भावी स्वप्न निश्चित है। वह भूत काल के खंडहर से निकलकर, वर्तमान की सीमा पर आ पहुँचा है, जहाँ वह भविष्यत के गर्भ में लीन हो जाती है। स्वराज्य अब स्वप्न की बात नहीं रही है, सम्भवनीयता का भी विषय नहीं रहा, प्रत्यक्ष का अरुणोदय हो रहा है। पूर्णोदय के पहले उसे अभी विरोधियों से युद्ध करना है; उसका युद्ध प्रेम का युद्ध है, शान्ति का युद्ध है। अपने पुरुषार्थ की, अपने स्वावलम्बन की, वृद्धि ही उसकी मुख्य शक्ति है। स्वदेशी, अहिंसा, सब जातियों की एकता और अछूतों का उद्धार ये चार उसके साधन हैं। यही वर्तमान काल का चतुर्विध पुरुषार्थ है। यही स्वराज्य का अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है।

स्वराज्य बुद्धि-युद्ध और वाग्युद्ध से नहीं मिलता। कौंसिलों के दरवाज़े कमज़ोरी के दरवाज़े हैं। ये हमें जनता से प्रत्यक्ष कार्य करने से रोकते हैं; हमें निकम्मा बनाने की मशीनें हैं। शत्रु के क़िले के अन्दर जाकर लड़ना बुद्धिमानी है। स्वराज्य तो पुरुपार्थ से मिलेगा, तप से और त्याग से मिलेगा। जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ सिद्धि है। पुरुषार्थ का अर्थ दाँव-पेच नहीं, चालबाज़ियाँ नहीं। पुरुपार्थ तो सत्य और निष्कपटता का सार है। पुरुषार्थी इस बात से नहीं

हिचकता कि मेरा कार्य जन-रुचि के प्रतिकूल है। वह तो जन-रुचि को सुधारता है, बनाता है। वह प्रकृति का गुलाम नहीं, राजा होता है। वह समय के प्रवाह को बदलता है, वह नवीन युग का निर्माण करता है, वह स्वप्न को प्रत्यक्ष कर देता है। वह भूत-वर्तमान सब को एक घाट पानी पिलाता है। भारत का भावी-स्वप्न इसी पुरुषार्थ की राह देख रहा है। हमारे पास भी जनता के लिए एक ही सन्देश है, 'पुरुषार्थ' यदि भावी-स्वप्न को प्रत्यक्ष करना चाहते हों तो पुरुषार्थ करो—"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो !"

---

[९]

आज़ादी का रास्ता

स्वराज्य या आज़ादी प्राप्त करने का अबतक एक ही रास्ता दुनिया को मालूम था—शस्त्र-युद्ध, रक्तपात। आज तक दुनिया के प्रायः तमाम छोटे-बड़े मुलकों और राष्ट्रों को शस्त्र लेकर शत्रुओं का बध करना पड़ा है और इस रक्त-व्यापार में जिसकी विजय हुई है, राज्यसत्ता और आज़ादी ने उसी का आश्रय-ग्रहण किया है। यह तो जुदी बात है कि इस उपाय से, शस्त्र-बल और विजय की इस स्पर्धा से वास्तविक स्वराज्य और आज़ादी कितने देशों और जातियों को प्राप्त हुई, कबतक वह उनके पास टिकी रही और उससे समाज को, जनता को सच्चा लाभ कहाँ तक हुआ। पश्चिमी देशों के जो राष्ट्र आज आज़ाद, स्वराज्य-प्राप्त प्रजासत्तात्मक माने जाते हैं, जिनकी नींव का एक-एक पत्थर अनेक वीरों और देश-भक्तों के

खून से जोड़ा गया है, वहाँ प्रजा को, जनता को स्वराज्य का सुख कहाँ तक मिल रहा है, यह भी एक विचारने-योग्य बात है। क्या आज इंग्लैंड में एक दल का राज्य नहीं है? मैंचेस्टर और लंकाशायर का राज्य नहीं है? क्या कोई कह सकता है कि वहाँ जनता का राज्य है, पैसे का नहीं?...

अमेरिका का राजतन्त्र क्या इने-गिने करोड़पतियों के इशारे पर नही चलता है? रूस में क्या विपक्षी भाइयों के लिए आज़ादी रक्खी गई है? शायद स्विज़रलैंड को छोड़कर कहीं भी थोड़ा-बहुत प्रजा का राज्य नहीं कहा जा सकता। एक मनुष्य के बजाय एक मनुष्य-मण्डल प्रजा का प्रतिनिधि बनकर, उसके हित के नाम पर, प्रजा को अपनी अंगुली पर नचाता है। शस्त्र-बल अर्थात् पशु-बल के द्वारा प्राप्त या स्थित स्वराज्य या आज़ादी हमेशा उसी के पास रहेगी जो पशु-बल में अर्थात् क्रूरता, भयानकता, और हिंस्रता में सब से बढ़ा-चढ़ा हो। इसका यही फल हो सकता है कि संसार मे आजादी और स्वराज्य चाहनेवाला हमेशा इन तीनो गुणो (?) की वृद्धि की स्पर्धा में रत रहेगा। जिससे आखिरकार न उसका भला है, न समाज का। और आज़ादी चाहना तो मनुष्य का जन्मसिद्ध गुण और अधिकार है। अतएव सृष्टि के अन्त तक मनुष्य पाशवी भावों के ही उत्कर्ष में लगा रहेगा। और आज़ादी

के नाम पर समाज और संसार अत्याचार, हिंसाकाण्ड और रक्त-पात की लीला-भूमि बना रहेगा।

तथापि गुलामी और कायरता से तो यह दशा बहुत अच्छी है। गुलामी के पिंजड़े में अत्याचार और दमन की जंजीरों से कसे हुए हतवीर्य होकर पड़े रहने की अपेक्षा तो समरभूमि के धारा-तीर्थ में स्वाधीनता के लिए प्राण समर्पण करना या शत्रु को अपने पैरों पर झुका लेना ही मानास्पद और वीरोचित है। पर सवाल यह है कि क्या भारत आज शस्त्र के बल पर स्थित इतनी बड़ी सरकार से अपना राज्य ले सकता है? मनुष्य की बुद्धि जहाँ तक पहुँच सकती है यह असम्भव है। तो क्या गुप्त षड्यंत्र रच-कर इस सरकार की जड़ उखाड़ी जा सकती है? इसका तो ख़याल तक करना हास्यास्पद है। इस उपाय के ख़िलाफ़ उन सैकड़ों देश-भक्त वीरों की गवाहियाँ हुई हैं जिन्होंने अपनी जान तक को संकट में डाल कर आज़माइश कर ली है। तो अब भारत किस रास्ते से स्वराज्य प्राप्त करे?

बस, एक ही रास्ता खुला है और वह है शान्तिमय-सत्याग्रह। कुछ लोग 'वैध-आन्दोलन' नाम का एक और रास्ता बताते हैं; पर वह तो केवल माया है; धोखे की टट्टी है। भारत में जो उस पथ के पथिक हैं वे भी धीरे-धीरे अपने भ्रम को अनुभव करते जा रहे हैं। शान्तिमय सत्याग्रह का सीधा-सादा अर्थ यह है कि वर्तमान राज्यतन्त्र रूपी

विशाल वृक्ष को जीवन-रस मिलने के जितने रास्ते हैं वे सब बन्द कर दिये जाँय। प्रजा की सहायता या सहयोग ही उसका जीवन-रस है। उसके अभाव मे यह प्रचण्ड वृक्ष सूखकर अपने आप बेकार हो जायगा। यह मनुष्योचित लड़ाई है, धर्म-युद्ध है। इसमे प्रतिपक्षी की हत्या नहीं होती, पर वह असमर्थ अवश्य हो जाता है। और हमारा बल बराबर बढ़ता जाता है। समाज मे शान्ति बराबर बनी रहती है। एक पेड़ का सूख जाना और दूसरे का पल्लवित होते जाना दोनो क्रियायें एक साथ इतनी शान्ति के साथ घटित होती हैं कि दुनिया के सब कारोबार ज्यो के त्यो चलते हुए शासन-यन्त्र का काया-पलट हो जाता है। यह शान्त-युद्ध संसार में एक नवीन और अद्भुत् प्रयोग है। इसके सफल होने पर संसार का जीवन ही पलट जाय त आश्चर्य नहीं।

इस प्रयोग में हमे सरकार से धीरे-धीरे अपना सारा सहयोग खीच लेना है। दूसरे, हमें उससे किसी प्रकार की सहायता नहीं लेनी है, उसके कृपा-प्रसादो से मुँह मोड़ लेना है, अर्थात् अपने पैरो खड़ा रह कर सारी तैयारी करनी है। इस तरह जहाँ एक ओर हमें असहयोग करना है तहाँ दूसरी ओर स्वावलम्बन बढ़ाना है। हमारा स्वावलम्बन जितना ही दृढ़ होगा, हमारा असहयोग उतना ही तीव्र और सफल होगा। जिसे हम पापी और बुरा समझ-

कर सहायता नहीं देते उससे सहायता ले भी कैसे सकते हैं ? दोनों पाप हैं ।

इसी तत्त्व के अनुसार असहयोग-आन्दोलन में सरकारी विद्यालयों में पढ़ना, सरकारी अदालतों से लाभ उठाना, कौन्सिलों में जाना नाजायज़ ठहराया गया था । हमारा आन्दोलन स्वावलम्बन का आन्दोलन है । हमारे स्वाव-लम्बन की मात्रा ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी त्यों-त्यों हम अपने ध्येय के नज़दीक पहुँचते जायँगे । और अन्त में यह विशाल और भीषण राज-तन्त्र देखते ही देखते बेकार हो जायगा । और उसके सब पाशवी साधन जहाँ के तहाँ कंकर-मिट्टी की तरह रक्खे रह जाँयगे ।

पर यह तभी हो सकता है जब हम स्वावलम्बन पर अधिकाधिक दृढ़ होते जाँय । जबतक हम एक ओर सरकार से मदद लेने की इच्छा करते रहेंगे, और दूसरी ओर अपने नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का मुँह ताकते रहेंगे, यह सोचते रहेंगे कि स्वराज्य तो हमें गाँधीजी, जवाहरलाल-जी या वल्लभभाई लाकर दे देंगे तबतक याद रखिए स्वराज्य आप से बहुत दूर रहेगा । नेता लोग तो हमें रास्ता दिखा सकते हैं, हमारी कुछ सहायता कर सकते हैं पर मंजिल तो हमीं को तय करनी होगी । वे हमें गोदी में उठाकर स्वराज्य तक नहीं ले जा सकते । इसमें हमारा न तो गौरव है न शोभा । और इस तरह नेताओं का दिया राज्य हमारा

राज्य कैसे हो सकता है? वह तो उन लोगों का राज्य होगा। भिखारी दान के बल पर कबतक पेट भर सकेगा? और उसके लिए किसी दिन दाता बनने का मनोराज्य करना तो महज़ पागलपन है। अतएव यदि भारत सचमुच सच्चा और अपना राज्य चाहता है तो उसके बच्चे-बच्चे को स्वावलम्बन और स्वाभिमान का सबक़ सीख लेना चाहिए। दूसरे से सहायता लेना, दूसरे के बल पर चलने की इच्छा रखना, दूसरे की दया और कृपा का भिखारी बना रहना—फिर वह चाहे सरकार हो चाहे हमारे भाई बिरादर हो—अपने मनुष्यत्व का, अपने पौरुष का अपमान करना है। और अपने को सदा निर्बल बनाये रखना है। चन्द्रमा को देखिए—वह सूर्य के बल पर जीवित रहता है तो क्षय और वृद्धि का रोग बराबर उसके पीछे पड़ा रहता है। कभी चैन नहीं लेने देता। बग़ीचे के पौधों को देखिए—दूसरे के चुल्लू से पानी पीने की आदत पड़ जाने से वे कितने अल्पायु हो जाते हैं। जहाँ पानी का अभाव हुआ नहीं कि उनकी जान के लाले पड़े नहीं। लताओं को देखिए—पेड़ का आश्रय हटते ही बेचारी किस तरह दुर्मुख होकर मलीन और क्षीण हो जाती है। परावलम्बन गुलामी का दूसरा रूप है। गुलाम को दूसरे लोग बनाते है, और परावलम्बी खुद बनता है। इसलिए एक तरह परावलम्बन गुलामी से भी खराब है। उसका मूल हमारे हृदय में है। घर का चोर, आस्तीन का

साँप, हमेशा अधिक भयंकर हुआ करता है। इसलिए, भारत सावधान हो जा। दूसरों का मुँह देखने की टेव को छोड़। मा-ब्रूहि दीनं वचः और याद रख—

"आत्मावलम्ब जिसको कुछ भी न प्यारा,
देता उसे न जगदीश्वर भी सहारा"

समस्या

१. संसार की समस्या

२. हमारा अन्नदाता

३. आधुनिक दाता और भिखारी

४. हमारे पाप

[१]

संसार की समस्या

मनुष्य सुख चाहता है। सुख की खोज में उसने कुटुम्ब बनाया, जाति बनाई, बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्र निर्माण किये, असीम धन-वैभव जुटाया, आमोद-प्रमोद और सौंदर्य के साधन एकत्र किये, पर सुख का स्वाद उसे न मिला। शरीर को सुख पहुँचाने वाली, इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली, मन को बहलानेवाली भोग-सामग्री में उसने शुरू-शुरू में सुख माना; परन्तु ज्यों-ज्यों वह इन भोग-सामग्रियों की आराधना में फंसता गया, त्यों-त्यों सुख की चाह और मन की अशान्ति बढ़ती गई और उसने भोग को छोड़कर सुख का कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहा। सम्राट् और चक्रवर्ती का राज-वैभव, विजय-वैभव और शत्रु-संहारक सैन्य-वैभव जहाँ थक गया, कुबेर और क़ारूँ का धन-वैभव जहाँ हताश हो गया, रति और कामदेव का शृंगार और सौंदर्य-वैभव जहाँ न पहुँच सका, कवि और

कलाकार जहाँ बीहड़ में भटकते रहे, अर्थात् जिस समस्या को भोगी भोग-प्रचार करके न हल कर पाये, उसके लिए योगियो ने आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने गहरा विचार करके देखा कि तमाम सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी मनुष्य दुखी का दुखी ही बना हुआ है। तब उन्होंने सुख के मूल की खोज शुरू की। उन्होने सोचा कि मनुष्य आखिर क्यो दुखी रहता है। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि मनुष्य इच्छाये तो बहुत करता है, अपनी आवश्यकतायें तो बहुत बढ़ा लेता है, इनमें तो बहुत स्वतन्त्र है, परन्तु अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वह बहुत परतन्त्र है। इससे उसकी बहुतेरी आवश्यकताये और इच्छायें अधूरी रह जाती है। और इस कारण वह दुखी बना रहता है। जब हर आदमी अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को बढ़ाने लगता है तब उनमें परस्पर संघर्ष और कलह होने लगता है। क्योंकि एक की इच्छायें और आवश्यकतायें दूसरे की इच्छाओ और आवश्यकताओ में बाधक होने लगती है। फिर उन्होने देखा कि इच्छाओ और आवश्यकताओ का तो कोई अन्त ही नही है. मनुष्य जितनी चाहे बढ़ा सकता है; और दूसरी बात यह कि उनकी तृप्ति के साधन मिलते रहने पर भी, अनेक भोगो को भोगने पर भी, मनुष्य अतृप्त और दुखी ही रहता है। तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इच्छाओं और आवश्य-

कताओं की सीमा बाँधे बिना मनुष्य को सुख-शान्ति नहीं नसीब हो सकती, और यह अन्तिम निर्णय कर दिया कि वासना का क्षय हुए बिना मनुष्य को पूर्ण और अक्षय सुख नहीं मिल सकता। उन्होंने कह दिया कि सुख भोग से नहीं, योग से ही मिल सकता है। मनुष्य भोग जितना कम और योग जितना अधिक करेगा उतना ही वह अधिक सुखी होगा। भोग के मानी हैं इच्छाओं और आवश्यकताओं की अमर्याद बढ़ती और योग के मानी हैं मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं तक उनका सीमित रहना। मनुष्य की साधारण आवश्यकता क्या है? पेट भर स्वच्छ सादा भोजन, तन भर कपड़ा, रहने के लिए सुडौल हवादार मकान, बाल-बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण आदि के लिए आवश्यक धन। इससे अधिक की इच्छा रखने या वस्तुओं को संग्रह करनेवाले को उन्होंने चोर की उपाधि दी और अपरिग्रह को सुख का मूल सिद्धान्त निश्चय किया एवं अपरिग्रह के सिद्धान्त पर समाज की रचना करना चाहा।

परन्तु इच्छाओं का त्याग और उससे घटकर अपरिग्रह की बात एकाएक मनुष्य को जँची नहीं। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा भोग-सामग्रियों के बंटवारे की चेष्टा की गई। परन्तु भोगलोलुपों की महत्वाकांक्षाओं ने उसको भी छिन्न-विच्छिन्न कर दिया। तत्व-रूप से यद्यपि सुख की समस्या हल हो

गई; परन्तु व्यवहार-रूप में बहु-जन-समाज के सामने वह अभी तक बिना हल हुए ही खड़ी है। भारतवर्ष के जीवन में यद्यपि भोग की जगह संयम का भाव फैला हुआ नज़र आता है तथापि उनका संयम अकर्मण्यता और कायरता के कीटाणुओं से आक्रान्त होकर उनके दुःख का कारण बन रहा है। उसके संयम का फल तो होना चाहिए था अधिक सुख, अधिक स्वतन्त्रता; परन्तु आज दुनिया में भारतवासी सबसे अधिक दुखी और पराधीन बने बैठे हैं। सुख का मूलमन्त्र जानते हुए भी भारतवासी उसका प्रयोग न जानने के कारण सुख से वञ्चित हो रहे है।

इधर नई दुनिया के लोग भी सुख के लिए छटपटा रहे हैं। भारत जिस प्रकार सुख की शोध में पहले भोग की शरण मे पहुँचा, फिर योग के चरणों में उसे सुख-शान्ति मिली। उसी प्रकार पश्चिमी संसार भी अभी भोग ही मे भटक रहा है। यद्यपि योग की किरणें वहाँ तक जा पहुँची हैं तथापि उनका प्रकाश अभी उन्हें आकर्षित नहीं कर सका है। भारतवर्ष के पास औषधि है, पर वह प्रयोग भूल गया है; पश्चिमी दुनिया में जीवन है, किन्तु दिशा-भूल हो रही है। अस्तु।

व्यावहारिक संसार के सामने आज यह भी समस्या खड़ी है कि समाज में सुख और शान्ति की वृद्धि किस तरह हो। जातियो और राष्ट्रों में परस्पर ईर्षा-द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा

और संघर्ष के भाव प्रबल हो रहे हैं और युद्ध की आवाज़ चारों ओर से उठ रही है। शान्ति-परिषदें, निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव की चर्चा जगह-जगह हो रही है। साम्राज्यवादी अपनी लूट की धुन में किसी की सुनते नज़र नहीं आ रहे हैं। बोल्शेविक और कम्यूनिस्ट अलग अपनी समाज-रचना की योजना लिये फिरते हैं, तो उधर मुसोलिनी फिर एक-तन्त्री पद्धति का संस्करण कर रहा है। साम्राज्यवादी कहते हैं, सारा शासन-यंत्र जबतक एकसूत्र से सञ्चालित न होगा तबतक समाज में सुख-शान्ति स्थापित न होगी। साम्यवादी कहते हैं, जबतक सम्पत्ति का बटवारा समान रूप से न होगा तबतक समाज से कलह दूर नहीं हो सकता। प्रजा-वादी कहते हैं, जबतक प्रजा के मत से समाज और राज्य का काम न चलेगा तबतक समाज की उन्नति नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह कि भौतिक पदार्थों में ही अबतक दुनिया सुख की शोध कर रही है। जहाँ तक मेरी बुद्धि पहुँच पाई है, मुझे साम्यवादियों का दल भौतिक दृष्टि से सुख और सुव्यवस्था के अधिक नज़दीक मालूम होता है। दुनिया में सुख प्राप्त करने के जितने साधन हैं वे सब के लिए समान-रूप से सुलभ होने चाहिएँ। चाहे अमीर हो या ग़रीब, स्त्री हो या पुरुष, सभ्य हो वा असभ्य, जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सबको समान रूप से सुविधा होनी चाहिए। केवल धन, सत्ता,

या विद्या के बल पर जब किसी को कोई विशेष सुविधा मिलने लगती है और जब उसे वह अपना अधिकार समझने लगता है तभी समाज में कलह उत्पन्न होता है। बलवान् और निर्बल ये दो वर्ग निर्माण होने लगते है और बलवान् क्रमशः निर्बल को निगलते जाते है। आज दुनिया में यही हो रहा है और इसीलिए विश्व समाज की शान्ति के लिए चिन्ताशील नजर आता है। मेरा यह विश्वास है कि निकट-भविष्य मे संसार को साम्यवादियों का यह हल मानना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि और तर्कशक्ति का उससे समाधान हो जाता है और उसमें अधिकांश लोगो का अधिक हित छिपा हुआ है।

फिर भी यह हल मेरी दृष्टि मे एकांगी है। एक हद तक समाज का हित-सधान इससे होगा। जहाँ तक सुख-सामग्री के बटवारे की वर्तमान प्रथा मे दोष है वहाँ तक तो यह हल काम दे देगा; पर सम्पत्ति और सुख-सामग्री को बढ़ाने की अभिलाषा उससे शान्त न होगी। आज निर्धनो और धनवानों, वैभवशालियो और दीन-दुखियों में राजा और रंक मे जो विशाल खाईं पड़ गई है वह इससे अवश्य बहुत कुछ भर जायगी, यह द्वेष बहुत-कुछ कम हो जायगा; परन्तु साथ ही धनैश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा बहुत-कुछ बढ़ भी जायगी। जबतक सुख-भोग का कोई सीमित आदर्श समाज के सामने नही रक्खा जायगा तबतक प्रतिस्पर्द्धा और वर्ग-

कलह से समाज को बचाना असम्भव है। यह सीमा दो प्रकार की हो सकती है—(१) मनुष्य अपने शारीरिक श्रम से जितना उपार्जन करे उतना ही सुख-भोग वह कर सकता है; (२) मनुष्य की साधारण आवश्यकतायें निश्चित कर ली जायँ और उससे अधिक परिग्रह करने का किसी को अधिकार न रहे। दोनों में मनुष्य से संयम करने के लिए कहा गया है। पहली बात कृत्रिम बन्धन-सी पर अधिक व्यावहारिक है। वह मनुष्य की इच्छा की मर्यादा नहीं बाँधती, व्यवहार में ऐसी शर्त लगा देती है कि अधिक इच्छा करते हुए भी मनुष्य अपने आप उसकी पूर्ति नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य बार-बार इच्छा करते हुए भी जब इस शर्त के कारण उसको पूरा न कर पावेगा, तब इस शर्त को तोड़ने की उसकी इच्छा प्रबल हो उठेगी और आगे चलकर यह शर्त ठहर न सकेगी। इसके विपरीत दूसरी बात मनुष्य की इच्छा को ही नियंत्रित कर देती है। वह उसके सामने ऐसा आदर्श उपस्थित करती है कि मनुष्य अधिक इच्छा करना ही बुरा समझने लगता है। इसलिए मेरी राय में यह उपाय अधिक स्थायी और अधिक फल-दायी है। हाँ, पहली सामाजिक व्यवस्था चालू हो जाने पर दूसरे आदर्श का प्रचार सुलभ हो सकता है। यह भी एक मत है कि समता की ऐसी व्यावहारिक जीवन-विधि बिताते-बिताते स्वतः भी सादगी की भावना उदय हो

सकती है। साम्यवादियों की समाज-व्यवस्था में, जहाँतक मैंने समझा है, अभी इसके लिए स्थान नहीं तजवीज़ हुआ है; शायद उनका समाजशास्त्र अभी इस परिणत अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ है । वे समानता के सिद्धान्त तक तो पहुँच गये हैं; अपरिग्रह या संयम के सिद्धान्त तक पहुँचना अभी बाकी है। यदि वे सचमुच वैज्ञानिक समाजशास्त्री हैं, तो उन्हे भोग को छोड़कर योग पर आना पड़ेगा, इसमें मुझे तिलमात्र सन्देह नहीं है।

कुछ मित्र कहते हैं कि भोग से पुरुषार्थ और कर्मण्यता की वृद्धि होती है और योग से संसार के प्रति उदासीनता और उसके फलस्वरूप अकर्मण्यता बढ़ती है। मेरी समझ में यह भ्रम है । भोग से पुरुषार्थ की नहीं, स्वार्थ की वृद्धि होती है, जिसका अंत होता है या तो विलासिता में या अत्याचार में; और दोनों का अन्तिम फल होता है घोर पतन। योग से जो उदासीनता आती है वह संसार के प्रति नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ के प्रति होती है, जिसका पर्यवसान होता है सेवा-भाव की वृद्धि मे। सच्चे योगी की कसौटी ही यह है कि उसका एक-एक क्षण दीन-दुखी, पीड़ित-पतित की सेवा मे व्यतीत होता है। भारत ने योग-मार्ग का अनुसरण तो किया किन्तु कर्मण्यता को भुला दिया, इससे आज निर्जीव और निःसत्व हो रहा है। जीवन का दूसरा नाम है कर्म। अपने लिए जो कर्म किया

जाता है उससे आसुरी जीवन बढ़ता है; दूसरों के लिए जो कर्म किया जाता है उससे दैवी जीवन मिलता है। कर्म-हीन जीवन वृथा है। मेरी राय में निकम्मा मनुष्य पशु से भी गया बीता है। अस्तु।

सुख के मूल को फिलहाल यदि एक ओर रख दें और फिर विश्व की वर्त्तमान समस्या का विचार करें, तो वह उतनी राजनैतिक नहीं मालूम होती जितनी कि आर्थिक है। पिछले ज़माने की तरह आज राज्य और साम्राज्य केवल दिग्विजय के लिए अथवा चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के लिए नहीं क़ायम हैं। राजसत्ता आज ध्येय से हटकर साधन बन गई है। नित-नये भोगों की चाह दुनिया में बढ़ रही है। बिना धन और ऐश्वर्य के उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। धन बिना व्यापार-उद्योग और कल-कारख़ाने के नहीं मिल सकता। बड़े-बड़े व्यापार-धन्धों को सफलता-पूर्वक चलाने के लिए राजसत्ता की वृद्धि की आयोजनायें हम देख रहे हैं। संसार में आज वह राज्य प्रबल है, जिसके पास कच्चे माल के साधन विपुल हैं और तैयार माल की बिक्री के लिए विशाल बाज़ार है। जिन देशों में कच्चे माल की बहुतायत है और तैयार माल की बिक्री का बड़ा बाज़ार है, उनपर सब देशों की ज़हरीली नज़र गड़ी हुई है। भारत ऐसे देशों में सब से बड़ा नहीं तो एक विशाल देश अवश्य है। ब्रिटेन के व्यापारी इसीलिए उसे जी-जान

से जकड़े हुए हैं। यह बात भारत के बच्चे-बच्चे को समझ लेनी चाहिए।

यह कहना शायद ग़लत न होगा कि इस अनियंत्रित भोग-तृष्णा का ही एक फल है वर्तमान साम्यवाद। साम्यवाद यद्यपि सारे समाज की भोग-तृष्णा पर प्रहार नहीं करता है तथापि धनैश्वर्य मे बढ़े-चढ़े लोगों को वह संयम का पाठ अवश्य पढ़ाना चाहता है। तात्विक जगत् में जिस प्रकार संयम या अपरिग्रह ही समाज के सुख का मूल सिद्ध है उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में शारिरिक श्रम का सिद्धान्त उच्च कोटि का है। शारीरिक श्रम ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा सम्पत्ति एक जगह एकत्र नही हो पाती, जगह-जगह यथेष्ट मात्रा में बँट जाती है। आज-कल उद्योग-धन्धे और कल-कारखाने शारीरिक श्रम के सिद्धान्त पर नही, बल्कि धन के प्रभाव पर चल रहे हैं, इसलिए मुनाफे का बँटवारा श्रम के लिहाज़ से नहीं बल्कि शेयरो के लिहाज़ से होता है और यही मूल है असमान बँटवारे का। अतएव यदि बड़े-बड़े कल-कारख़ाने और उद्योग-धन्धे समाज के लिए अभीष्ट और अनिवार्य है, तो मुनाफे के बँटवारे की वर्तमान पद्धति मे अवश्य सुधार हो जाना चाहिए। पर यदि हम अपने भोगों की एक सीमा बाँध लें और मनुष्य की शक्ति का पहले उपयोग करके फिर, उसके कम पड़ने पर, भाफ या

बिजली की सहायता लें तो समाज की विषमता और बेकारी दोनों का सवाल आसानी से हल हो सकता है। बड़े-बड़े कल-कारखानों की कल्पना उन्हीं देशों में उदित और विकसित हुई है जहाँ मानव-शक्ति कम थी। भारतवर्ष-जैसे देश में जहाँ करोड़ों लोगों को साल में छः महीने बेकारी में बिताने पड़ते हैं, बड़े-बड़े कारखानों को खड़ा करना मानवी-शक्ति का तिरस्कार करना है और तिसपर भी मुनाफ़े के बँटवारे में विषमता से काम लेना तो मानों करेले को नीम पर चढ़ाना है। कितने आश्चर्य की बात है कि अपनी भोगेच्छा को तनिक संयम में रखना मनुष्य को, शिक्षित मनुष्य को कठिन बात मालूम होती है; और दुनिया-भर की आसुरी महत्वाकांक्षायें और उनकी सिद्धि के लिए उचित और अनुचित सब प्रकार के भगीरथ प्रयत्न उसे आसान मालूम होते हैं। अस्तु।

सारांश यह है कि दुनिया सुख की शोध में है। संयम, अपरिग्रह अथवा इच्छाओं का नाश सुख का मूल-मन्त्र है। परन्तु इसकी साधना उसे कठिन मालूम होती है। वह सरल उपाय चाहती है। साम्यवादियों ने सम्पत्ति के समान बँटवारे का हल उसके सामने रक्खा है। एक हद तक वह संसार की विषमता कम कर सकेगा। यदि शारीरिक श्रम के मार्ग को समाज स्वीकार कर ले तो समानता के सिद्धान्त की अपूर्णता कम हो सकती है। इस

दृष्टि से विश्व की प्रधान समस्या आज साम्पत्तिक है, राज-
नीति तो उसका अंग-मात्र है। कल-कारखाने इसे हल नहीं
कर सकते । श्रम-धर्म या मानवी शक्ति ही इसका एक-
मात्र उपाय है । ऐ उलटी दुनिया, जड़ता को छोड़कर
चैतन्य की पूजा कर !

---

[२]

हमारा अन्नदाता

किसान हमारा अन्नदाता है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। और कम-से-कम भारत में हम इस बात को भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि आज बहुसंख्यक होते हुए भी सब से अधिक दीन-हीन, दुखी, पंगु और दबे हुए यदि कोई हैं तो वे हैं हमारे ये अन्नदाता ही। इसका कारण क्या है ? उनकी अविद्या, अपने अधिकारों, अपनी आवश्यकताओं, अपनी असुविधाओं और अपनी परिस्थिति का अज्ञान और तिस पर भी यह बेबसी कि मुँह खोलकर चूँ तक नहीं कर सकें। भारत में पिछले आर्यों और हिन्दुओं के ज़माने में तो राजा-प्रजा पिता-पुत्र के आदर्श को मानते थे; राजा लोग स्वयं चाहे आपस में लड़ते रहे हों और भोग-विलास में भी कोई-कोई अपने ऐश्वर्य को स्वाहा कर देते हों पर आज की तरह प्रजा को—किसानों को लूटने और बेबस बनाये रखने की नीति प्रचलित करने

का पाप उन्होंने नहीं किया था। मुसलमानो के समय में धर्म की वृद्धि के लिए चाहे जुल्म-ज्यादती हुई हो पर केवल लूटने और चूसने की आसुरी नीति के शिकार ये किसान उस समय भी न हुए थे। हिन्दुस्थान में तो अँग्रेजों के जमाने में किसानो की जो तबाही और बरबादी हो रही है, वह इतिहास में कहीं न हुई होगी। रूस मे जारशाही का नामोनिशान मिट कर आज जो किसानो का राज्य कायम हो गया है, उसका कारण जार की लूट और जोरो-जुल्म की नीति ही है। भारत की किसान-जनता की भी अन्तरात्मा त्राहि-त्राहि कर रही है और मुझे वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब किसान इस लूट-नीति के खिलाफ बग़ावत का झण्डा लेकर उठ खड़े हो।

पिछले दिनो संयुक्त-प्रान्त में किसानों के आन्दोलन बराबर होते रहे है। चंपारन में भी निलहे गोरो के ख़िलाफ़ किसानो ने आन्दोलन किया था और महात्माजी के नेतृत्व में उनके कष्ट दूर हुए। खेड़ा, बोरसद, और हाल ही बारडोली मे भी किसानो को सत्याग्रह करना पड़ा और अन्त मे सरकार को अपनी हार माननी पड़ी। बारडोली की विजय ने तो एक तरह से मौजूदा सरकार की जड़ को ही हिला दिया है। उसने इस बात पर अच्छी और गहरी रोशनी डाल दी है कि एक तो सरकार किस तरह हर बन्दोबस्त में लगान बढ़ाती चली जाती है और दूसरे उसकी

मदान्धता किसानों की न्याय-युक्त और उचित बात को सुनने के लिए भी सहसा तैयार नहीं होती। जब से महात्मा गाँधी भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे हैं तभी से उन्होंने किसानों के दुःखों की ओर ध्यान दिया है और काँग्रेस का भी ध्यान ग्राम-संगठन की ओर बहुत-कुछ खींचा है। चरखा-संघ, यदि किसी समाज की सेवा के लिए, स्थापित हुआ है तो यह है हमारा यह अन्नदाता-समाज ही। हमें तो अपनी सारी शक्ति किसान-संगठन में ही लगा देनी चाहिए और लगान-नीति के प्रश्न को हाथ में लेकर स्वराज्य की लड़ाई में आगे क़दम बढ़ाना चाहिए।

ख़ैर, यह तो काँग्रेस के नेताओं के सोचने और करने की बात है—इस लेख में तो हमें इस बात पर विचार करना है कि किसानों के दुःख क्या हैं और वे कैसे दूर हो सकते हैं। उनके दुःखों को हम इतने भागों में बाँट सकते हैं—(१) राजनीति (२) कृषि (३) शिक्षा (४) और स्वास्थ्य-सम्बन्धी। सामाजिक और आर्थिक दुःखों का समावेश इन्हीं में हो जाता है।

राजनैतिक दुःख—

सब से बड़ा और गहरा है। आज देश के राज-काज में उनकी न तो कोई आवाज़ है, न उन्हें कुछ सत्ता है। प्राचीन समय में हर गाँव प्रायः स्वतन्त्र था—लगान

दे देने के अलावा गाँव के सारे शासन-प्रबन्ध की ज़िम्मेदारी गाँववालों पर ही थी। अब तो एक मामूली पुलिस का सिपाही भी सारे गाँव वालों के लिए सम्राट से बढ़कर हो जाता है। आज तो किसान हम लोगों के लिए अन्न पैदा करने की मशीन रह गया है। जहाँ ज़मींदारी पद्धति है वहाँ वे जमींदारों के गुलाम हैं और जहाँ रैयतवारी है, वहाँ पटवारी और तहसीलदार उनके प्रभु हैं। जो जाता है, उन्हे लूटने और चूसने की नीयत रखता है। लगान के अलावा कई तरह के अबवाब ऐसे लगे रहते हैं कि किसान की सारी उपज औरों के घर चली जाती है—भूसी उनको नसीब होती है। ज़मीन का मालिक यदि वह है भी तो नाम-मात्र का। बहु-संख्यक और अन्नदाता होते हुए भी राज-दरबार मे न उनकी पूछ होती है, न आदर। जूतियो के पास खड़े रहते हैं; हाथ जोड़े मारे-मारे फिरते हैं। उनकी यह ज़िल्लत देखकर किसके मन में बग़ावत के भाव न पैदा होते होगे? मेरी राय में किसानो की राजनैतिक स्थिति सुधारने के लिए इतनी बाते होनी चाहिए—

(१) यह क़रार दिया जाय कि ज़मीन का मालिक किसान है और सरकार को वह जो कर या लगान देता है, वह सरकार का हक़ नही है, बल्कि सरकार का ख़र्च चलाने का आंशिक बोझ है, जो उसे कर्त्तव्य समझकर उठाना चाहिए।

(२) कर या लगान किस हिसाब से लिया जाय, इसका निर्णय किसानों के प्रतिनिधियों द्वारा हो।

(३) गाँव के भीतरी प्रबन्ध में किसान स्वतंत्र हों। गाँव की एक पंचायत हो और उसके द्वारा गाँव की व्यवस्था होती रहे।

ज़मीन का मालिक राज्य (State) रहे या किसान, इसके संबंध में दो मत हैं। एक मतवालों का कहना है कि ज़मीन राज्य की है और किसान तो उसके जोतने का किराया देता है। किराया घटाना-बढ़ाना मालिक की मर्ज़ी पर है—किसान का जी चाहे, ज़मीन जोते, जी चाहे न जोते। दूसरे पक्षवालों का कहना है कि ज़मीन किसान की है। वह मेहनत करता है, उसे जोतता-बोता है, इसलिए उसकी है। सरकार तो अपने खर्च के लिए थोड़ा-सा कर उससे ले लिया करे। ज़मीन राज्य की है—इस सिद्धान्त को मानने में तब तो कोई आपत्ति न हो सकेगी जब सारा राज्य वास्तविक अर्थ में जनता का हो, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा, जनता के ही हित के लिए, राज्य-संचालन होता हो जैसा कि, सुनते हैं, आजकल रूस में हो रहा है। पर जहाँ राजा कोई एक व्यक्ति हो, अथवा ऐसा व्यक्ति-समूह हो, जो अपने लाभ के लिए राजकाज करता हो वहाँ ज़मीन का मालिक राज्य को मानना अनुचित है। जबतक जनता यह अनुभव नहीं करने लगती कि राज्य हमारा

और हमारे हित और सुख के लिए है तबतक जमीन पर किसान का ही स्वामित्व रहना चाहिए—और ऐसी अवस्था तवतक नहीं आ सकती जबतक राज्य (State) में किसी सत्ता-धारिणी संस्था (Government) की आवश्यकता रहेगी और वह अपनी सत्ता के बलपर राज-काज करेगी। जबतक जनता को यह अनुभव होता रहेगा कि कोई बाहरी शक्ति हम पर अंकुश रख रही है तबतक राज्य के साथ वह एक-रस नहीं हो सकती और जबतक एक-रस न होगी तबतक जमीन का मालिक राज्य को बनाने से सिवा सत्ताधारियो के लाभ के और सबका अहित ही है। इससे मै तो इस नतीजे पर पहुँच रहा हूँ कि अभी तो सैकड़ों बरसों तक समाज में किसी-न-किसी रूप में सरकार की आवश्यकता रहेगी और इसलिए जमीन का मालिक किसान को ही रहना चाहिए।

कृषि-सम्बन्धी दु.ख—

भी कम कहाँ हैं। सरकार लगान तो भर पेट ले लेती है; पर पैदावार बढ़ाने, उसमें सहायक होने का यथोचित ध्यान नहीं रखती। कृषि-विज्ञान के आचार्यों का कहना है कि भारत में भूमि की उर्वरा-शक्ति दिन-दिन कम होती जा रही है। गोबर, जो खाद के काम में लाया जाना चाहिए, ईंधन के अभाव में, जलाने के काम आता है और

सरकार इसकी रोक का कोई उपाय नहीं करती। बाहर के देशों के साथ खुला व्यापार करने की नीति के कारण हिन्दुस्थान का सारा अनाज दूसरे देशों को चला जाता है—किसान के घर में कुछ नहीं बचता, उसका जो मुनाफ़ा होता है वह बीचवाले छोटे-बड़े व्यापारी चाट जाते हैं और बदले में विदेश से आने वाली तरह-तरह की ग़ैर-ज़रूरी चीज़ें उसके घर में जाती हैं जिससे पैसा बरबाद होता है। इसका फल यह हुआ कि दूसरे देशों में, जैसे इंग्लैंड, जहाँ पहले अनाज के अभाव से अकाल हुआ करते थे वहाँ तो विपुल अनाज पहुँच जाने से अकालों का होना असम्भव हो गया; परन्तु भारत में भीषण अकालों की संख्या बढ़ती जाती है। जब से महात्मा गाँधी ने जनता के अन्दर काम करने, गाँवों को जगाने, किसानों का संगठन करने की आवाज़ उठाई, धूर्त सरकार ने सोचा कि अब तो सब चौपट हो जायगा—अपने को किसानों का हित-कर्त्ता सिद्ध करने के लिए एक कृषि-कमीशन भेज दिया; पर कुछ तत्त्व न निकला। मेरी राय में कृषि-सुधार के लिए इतनी बातें अवश्य होनी चाहिएँ।

(१) गोबर के कण्डे बेचना बन्द करा के उसका खाद खेतों में पहुँचाना चाहिए तथा और भी वैज्ञानिक खादों के द्वारा भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ानी चाहिए।

(२) किसानों के लिए यह नियम कर दिया जाय

कि वे बीज और कम-से-कम डेढ़ साल तक चलने लायक अनाज और रुई अपने घर में रखकर शेष अनाज बेचें।

(३) लगान की बढ़ी हुई दरें कम की जायँ और इससे आमदनी में जो कमी हो उसकी पूर्ति, असह्य फौजी खर्चा कम करके, अँग्रेजों की बड़ी-बड़ी तनख्वाहें और पेन्शनें बन्द करके होनी चाहिए।

(४) कई तरह के अवसाद—सामाजिक कुप्रथाओं और दुर्व्यसनों तथा साहूकारों की लोभ-नीति के कारण किसान अक्सर क़र्ज़दार बने रहते हैं। कोआपरेटिव सोसायटियाँ, जो कि उनको इस दुःख से मुक्त करने के उद्देश से खोली गई हैं, कई जगह और भी उनके दुःखों को बढ़ाने का कारण हो गई हैं, अतएव किसानों के हित को ही मद्दे नज़र रखकर सेवा-भाव से ऐसी सोसायटियों का काम चलना चाहिए और सेवा-परायण लोगों का समावेश उनमें होना चाहिए—न कि पेट भरने की नीयत से जाने वाले लोगों का।

(५) गाय और बैलों के पालने के लिए काफी चरागाह रक्खे जायँ; दूध-शालाओं और और चर्मालयों के प्रश्न को हाथ में लिया जाय।

(६) कल के हलों के प्रवेश से देश और किसानों को बचाया जाय। जबतक ज़मीनें एक-एक किसान के पास बहुत ज्यादा न होंगी तबतक कल के हलों से कोई लाभ

नहीं है और एक किसान बहुतेरी ज़मीन तब ख़रीद सकता है, जब या तो उसके पास काफ़ी रुपया हो, या दूसरे पूँजी-पति आगे बढ़कर बड़ी-बड़ी ज़मीनें ख़रीद लें और किसानों को नौकर रखकर उनसे खेती करवावें। इसका नतीजा वही होगा जो कपड़े आदि के बड़े-बड़े कारख़ाने खुलने से हुआ है—थोड़े लोगों को रोज़ी मिली है और बहुतेरे लोग बेकार हो गये हैं। दूसरे ग़रीबों के घर से पैसा निकल-निकल कर अमीरों के घर में जा रहा है। हाथ के धन्धे डूबने से जो बेकारी फैली हुई है उससे कई गुना बेकारी किसानों में, कल के हलों के प्रचार के कारण, फैलेगी, जिसका सामना करना बहुत मुश्किल होगा।

(७) फ़ुरसत के वक्त कोई हाथ-धन्धा उन्हें अवश्य मिलना चाहिए। यों रस्सी बनाना, गाड़ी-बैल-ऊँट किराये पर देना, ईंधन की लकड़ी बेचना, ऐसे ही काम किसान फ़ुरसत के वक्त करता रहता है; परन्तु इन सबसे बढ़कर काम है रुई का कातना, पींजना और धुनना। दोनों काम एक घर में होने से आमदनी भी काफ़ी होती है और इसमें न बहुत रुपया लगाना पड़ता है, न बड़ी अक़्ल की ज़रूरत होती है। और लोग इन कामों से परिचित भी हैं। एक किसान की औसत आमदनी ३०) साल से अधिक नहीं है—इतनी ही आमदनी और, वह कताई-पिंजाई-धुनाई से भी बड़े मज़े में कर सकता है।

शिक्षा

शिक्षा का तो पूरा अभाव किसानों में है। यों संस्कारिता और सदाचार में किसान शिक्षित कहलानेवाले आजकल के बहुतेरे लोगों से बढ़ जाते हैं पर अक्षरज्ञान के अभाव से उन्हे कम कष्ट नही उठाना पड़ता है। सरकारी हुक्काम और बनिये-बक्काल उन्हें ठगने मे कसर नही रखते हैं। दुनियां के रुख और हालात से, कानून तथा देश की हलचलों से नावाक़िफ होने के कारण चीज़ों की ख़रीद-बिक्री, मामले-मुक़द्मे, धर्म-कर्म की ऊपरी बातें आदि में उन्हें बहुत नुक़सान उठाना पड़ता है। इसके लिए किसानों में प्रारम्भिक शिक्षा का होना बहुत ज़रूरी है। साथ ही कृषि, पशुपालन, देहात की बीमारियों के इलाज, और देश की साधारण राज्यव्यवस्था, हिसाब-किताब आदि की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। किसान न केवल अपाहिज हैं, बल्कि शिक्षा के अभाव में, अन्धे भी हैं।

स्वास्थ्य

स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों से अनभिज्ञ होने के कारण गन्दगी की बुराइयों को नही देख पाते। गाँव के पास ही कूड़ा-कटकट रखना, गाँव की गलियों में ही टट्टी-पाखाना बैठ जाना, बीमारियों में इलाज का कोई प्रबन्ध न होना, देहात में मामूली बात देखी जाती है। अतएव एक ओर

जहाँ स्वास्थ्य और बीमारियों का ज्ञान उन्हें कराना आवश्यक है तहाँ दूसरी ओर बीमारियों के इलाज का भी इन्तजाम होना चाहिए। अंग्रेजी दवायें (एलोपैथिक) वहाँ बहुत मँहगी पड़ती हैं—देशी या होम्योपैथिक दवायें बहुत सस्ती पड़ती हैं और इन्हीं का उपयोग होना चाहिए। ज्वर, फोड़े-फुन्सी, आँख और पेट का दर्द, साँप-बिच्छू का काटना, हाथ-पाँव में चोट आ जाना ये देहात की ख़ास-ख़ास बीमारियाँ हैं और हर बड़े गाँव में इनके लिए दवा का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए।

परन्तु वर्त्तमान विदेशी सरकार, जिसकी सारी हस्ती ही हमारी दासता और किसानों की कमाई-रोटी खुद हड़प जाने पर बनी है—ये सुधार स्वेच्छा से क्यों करने लगी? सुधार भी यह करेगी तो वैसा ही और उसी हद तक जिससे दुनिया को तो यह दिखा सके कि किसानों के हित के लिए बड़े-बड़े कमीशन बैठे हैं और बड़ी-बड़ी तजवीज़ें हो रही हैं पर जिसका वास्तविक परिणाम होता उल्टा किसानों के दुर्बल कंधों पर और भी बोझ का लद जाना। यदि नहरें खोद कर, अच्छा बीज देकर या खाद के नये प्रयोगों द्वारा उपज बढ़ी तो इधर लगान बढ़ा दिया जाता है—किसान बेचारा यों ही सूखा का सूखा रक्खा रह जाता है। अतएव देश-सेवकों का ध्यान अब इसकी ओर बहुत सरगर्मी से जाना चाहिए और उन्हें अपने को ग्राम-सेवा, किसान-संगठन

आदि के लिए तैयार करना चाहिए। जबतक भारत के शिक्षित और देश-सेवा की उमंग रखनेवाले युवक देहात को अपना कार्य्य-क्षेत्र न बनावेंगे और किसानों के इन प्रश्नों को हाथ में लेकर आन्दोलन और संगठन न करेंगे तबतक स्वराज्य-संग्राम में उनकी प्रगति होना कठिन है।

---

[३]

आधुनिक दाता और भिखारी

सार्वजनिक काम बिना धन की सहायता के नहीं चलते, यह स्वयंसिद्ध और सर्वमान्य बात है। धन तो धनी लोगों से ही मिल सकता है। हमारे देश में ऐसे धनी बहुत कम हैं जो सार्वजनिक कामों में दिल खोलकर धन लगाते हों। पुराने विचार के धनी मंदिरों, गोशालाओं, धर्मशालाओं, कुवों, अन्नक्षेत्रों आदि में धन लगाते हैं और कुछ संस्कृत-हिन्दी की पाठशालाओं तथा अंग्रेजी स्कूलों के लिए भी धन देते हैं। देश की परम आवश्यकता को समझ कर सामाजिक सुधार अथवा राष्ट्रीय संगठन के काम में थैली खोलकर रुपया लगानेवालों की बड़ी कमी है। फिर जो ऐसे कामों में दान दिया जाता है वह कीर्ति के लोभ से, मुलाहिजों में आकर, जितना दिया जाता है उतना उस कार्य से प्रेम होने के कारण नहीं। इसका फल यह होता है कि हमें रुपया तो मिल जाता है

पर उन कामों के लिए उनका दिल नहीं मिलता, जो कि धन से भी अधिक क़ीमती है। जहाँ धन और मन दोनों मिल जाते हैं वहाँ ईश्वर की पूरी कृपा समझनी चाहिए।

पर जहाँ मन नहीं है, अथवा मन दूसरी बातों में लगा हुआ है, वहाँ से अपने कामो के लिए धन प्राप्त करना एक टेढ़ी समस्या है। कार्यकर्त्ता की सबसे बड़ी परीक्षा यदि किसी जगह होती है, सब से अधिक मनःक्लेश उसे यदि कहीं होता है, तो अपने प्रिय कार्यों के लिए धन एकत्र करने में। मैं इस बात को मानता हूँ कि यदि कार्यकर्त्ता अच्छे और सच्चे हों तो धन की कमी से उनका काम नहीं रुक सकता। मैं यह भी देखता हूँ कि कितने ही देश-सेवक धन प्राप्त करने में विवेक का कम उपयोग करते हैं। धन-वान् प्रायः शंकाशील होते हैं। यदि वे ऐसे न हों तो लोग उन्हें ज़िन्दा खा जायँ। धन ही उनका जीवन-प्राण होता है, धन ही उनके सारे परिश्रम और उद्योग का लक्ष्य होता है; इसलिए धनदान के मामले में वे कठोर, संशयचित और बेमुरौवत हों तो आश्चर्य की बात नहीं; फिर भी जिस बात में उनका मन रम जाता है, फिर वह देश-सेवकों की दृष्टि में उचित हो वा अनुचित, वे मुट्ठी खोलकर पैसा लगाते ही रहते हैं। अतएव सबसे आवश्यक बात है धन-वानों को यह जँचाना चाहिए कि हमारा काम लोकोपयोगी है, उसकी इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है, और

कार्यकर्त्ता सच्चे, प्रामाणिक और व्यवस्थित काम करनेवाले हैं। यह हम बातें बनाकर उन्हें नहीं समझा सकते, छल-प्रपञ्च तो के दिन तक चल सकता है ? हमारी व्यक्तिगत पवित्रता, हमारी लगन, हमारी कार्य-शक्ति ही उन्हें हमारा सहायक बना सकती है।

हमारे देश में दान देनेवाले तीन-चार प्रकार के लोग होते हैं। (१) एक तो वे धनी जो पुराने ढंग के धार्मिक कार्यों में धन लगाते हैं, (२) दूसरे वे धनी जो देशहित और समाज-सुधार में रुपया देते हैं, और (३) सर्व-साधारण लोग। पुराने ढंग के लोगों में धर्म का भाव अधिक है, धर्म का ज्ञान कम है; और देश तथा समाज की स्थिति का ज्ञान तो और भी कम है। पुरानी रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों को ही उन्होंने धर्म मान रक्खा है—और यह उनका इतना दोष नहीं है जितना उन लोगों का, जिन्होंने उनकी ये धारणायें बना दी हैं, और अब भी जो उन्हें बना रहने देते हैं। दान का भाव उनके अन्दर है; जिस दिन वे अपनी धारणाओं को ग़लत समझ लेंगे, अपने भ्रम को जान जायंगे, उसी दिन वे समझ और खुशी के साथ देश-हितकारी कार्य्यों में दान दिया करेंगे। इसका उपाय तो है उनके अन्दर देश-काल के ज्ञान का प्रचार करना। उनके साथ धीरज रखना होगा, आतुर बनने से काम न चलेगा। दूसरे दल में दो प्रकार के लोग हैं—एक तो वे

जो सभी अच्छे कामों में सहायता देते रहे हैं; दूसरे वे जो ख़ास-ख़ास कामों में ही देते है। ये दो भेद हम सार्वजनिक भिखारियों को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। पहले प्रकार के लोग काम करनेवालों पर ज्यादा दृष्टि रखते हैं और दूसरे प्रकार के लोग काम और काम करने वाले दोनों पर। पहले दाता को यदि यह जँच जाय कि आदमी भला और ईमानदार है तो फिर उसका काम न जँचने पर भी वह सहायता कर देता है और दूसरा दाता इतने पर संतोष नहीं करता। वह यह भी देखता है कि यह काम क्या कर रहा है, अच्छी तरह कर रहा है या नहीं, जो कार्य स्वयं दाता को पसंद है वही कर रहा है या दूसरा; और यदि वह उस के मत के अनुकूल हुआ तो ही सहायता करता है। पहले दाता मे उदारता अधिक है और दूसरे में विवेक तथा मिश-नरी-वृत्ति। पहले में राजा का मनौदार्य है, और दूसरे में सेनानायक की विवेक-शीलता, तारतम्य-बुद्धि। पहला देने की तरफ़ जितना ध्यान रखता है उतना इस बात की तरफ़ नहीं कि दिये धन का उपयोग कैसा हो रहा है, काम-काज कैसा-क्या चल रहा है; दूसरा पिछली बात के लिए जाग-रूक रहता है। पहले दाता से बहुतों को थोड़ा-थोड़ा लाभ मिलता है, दूसरे से थोड़ों का बहुत। पहला धूर्तों के जाल में फँस सकता है, दूसरे से सच्चे भिखारी भी निराश हो सकते हैं। इस मनोवृत्ति को पहचानकर हमें भिक्षा-पात्र

हाथ में लेना चाहिए। राजा-वृत्ति के दाता के पास हर भिखारी बड़ी रक़म की अभिलाषा से जायगा, अथवा बार-बार जाने लगेगा, तो निराशा, पछतावा और कभी किसी समय उपेक्षा या अपमान के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। मिशनरी-वृत्ति वाले दाता के पास उसके प्रिय कामों को छोड़कर दूसरे कामों के लिये जानेसे सूखा इन्कार मिलने की तैयारी कर रखनी चाहिए।

अब रहे सर्वसाधारण दाता। ये दाता भी हैं और दान-पात्र भी हैं। सार्वजनिक काम अधिकांश में सर्वसाधरण के ही लाभ के लिए होते हैं। उन्हीं का धन और उन्हीं का लाभ। हमारी वर्ण-व्यवस्था ने समाज-हित के लिए धन देना धनियों का कर्तव्य ठहरा दिया। इसलिए अधिकांश धन उन्हीं से मिलता है और उन्हीं का दिया होता है। यों देखा जाय तो सर्वसाधारण जनों के ही यहाँ से वह धन धनियों के यहाँ एकत्र हुआ है और उसका कुछ अंश फिर उन्हीं की सहायता में लग जाता है। पर इतना चक्कर खाकर आने के कारण वह उन्हें अपना नहीं मालूम होता। सब से अच्छी मनोवृत्ति तो मुझे यही मालूम होती है कि सर्व साधारण अपनी संस्थायें, अपने काम, अपने ही खर्चे से चलावें; दान लेने और दान देने की प्रथा मनुष्य के स्वाभि-मान को गहरा धक्का पहुँचाती है। दान देनेवाला अपने को उपकार-कर्त्ता अतएव बड़ा समझने लगता है और

अभिमानी हो जाता है, इधर दान लेनेवाला अपने को उपकृत अतएव छोटा और ज़लील समझने लगता है। यदि कर्त्तव्य-भाव से दान दिया और लिया जाता है, यदि दाता अपना अहोभाग्य समझता हो कि मेरा पैसा अच्छे काम में लगा, यदि भिक्षुक भी अपने को धन्य समझता हो कि समाज-सेवा या देश-हित के लिए मुझे झोली हाथ में लेने का और अपमानित या तिरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—तब तो इससे बढ़कर सुन्दर, उच्च, ईर्ष्या-योग्य मनोवृत्ति हो नहीं सकती। अतएव या तो कर्त्तव्य और सेवा-भाव से दान दिया और लिया जाय, फिर उसमें उपकार या एहसान का भाव किसी ओर न रहे, या फिर दान देने-लेने की प्रथा उठाकर स्वावलम्बन की प्रणाली डाली जाय। वर्तमान दाताओं और भिक्षुकों का वर्तमान अस्वाभाविक और उद्वेग-जनक सम्बन्ध किसी तरह वांछनीय नहीं।

भिक्षुक भी कई प्रकार के हैं। पेटार्थी और सेवार्थी—ये दो बड़े भेद उनके किये जा सकते हैं; फिर याचक भिखारी और डाकू भिखारी—ये दो भेद भी उनके हो सकते। अपने पेट के लिए भीख मांगनेवाले—फिर चाहे वे पुराने ढंग के भिखमंगे हों, चाहे नवीन ढंग से चन्दा जमा करनेवाले लोग उन्हे पहचानते हैं और चाहें तो उन्हे जल्दी पकड़ सकते हैं। सेवार्थी वे हैं जो अपने

अंगीकृत कार्यों और संस्थाओं के लिए सहायता प्राप्त करते हैं। अपने भरण-पोषण मात्र के लिए वे संस्था से ख़र्च ले लेते हैं। याचक भिखारी वे जो गली-गली चिल्लाते और गिड़-गिड़ाते फिरते हैं; और डाकू भिखारी वे जो मुडचिरे होते हैं, अथवा अख़बारों में बदनामी करने की धमकी दे-देकर, या आन्दोलन मचाकर रुपया हड़प लेते हैं।

दाताओं को चाहिए कि वे स्तुति से प्रभावित और निन्दा से भयभीत होकर दान न दें। कार्य की आवश्य-कता, श्रेष्ठता और उपयोगिता तथा कार्य-संचालक की लगन, प्रामाणिकता, व्यवस्थितता और योग्यता देखकर धन दिया करें। भिखारियों को चाहिए कि दाता को पहचानकर उसके पास जायँ, आवश्यकता हो तभी जायँ। दाताओं और भिखारियों के लिए नीचे लिखे कुछ नियम लाभकारी साबित होंगे—

दाताओं के लिए—

(१) देश, काल और पात्र को देखकर दान दें।

(२) जो देना हो खुशी-खुशी दें—बेमन से या ज़बर-दस्ती कुछ न दें।

(३) आजकल देश-हित और समाज-सुधार के कामों में ही धन लगावें।

(४) दान देने के पहले भिक्षुक को परख लें। यह जाँच

लें कि वह अपने, अपने कुटुम्बियों के, आश्रितों के लिए सहायता चाहता है, या अपने अंगीकृतकार्य के लिए, अपनी संस्था के संचालन के लिए चाहता है। फिर व्यक्ति और कार्य की जैसी छाप उनके दिल पर पड़े वैसी सहायता करनी चाहिए।

(५) हर आगन्तुक की सीधे सहायता करने के बजाय यह अच्छा है कि एक-एक कार्य के लिए एक-एक विश्वसनीय प्रधान चुन लिया जाय और उसकी मार्फत सहायता दी या दिलाई जाय।

(६) जहाँ-जहाँ दान दिया जाता है वहाँ उसका उप-योग कैसा-क्या होता है, इसकी जाँच-परताल दाता को हमेशा कराते रहना चाहिए और आवश्यकता जान पड़े तो बिना माँगे भी सहायता करनी चाहिए।

(७) इतनी बातों की जाँच होनी चाहिए—प्राप्त धन का हिसाब ठीक-ठीक रक्खा जाता है या नहीं; खर्च-वर्च में किफायत से काम लिया जाता है या नहीं; कार्य के अलावा व्यक्ति अपने ऐशो-आराम मे तो खर्च नहीं कर रहे हैं न।

(८) दाता भिखारी का अनादर न करे। स्नेह के साथ उसकी बा सुने और मिठास से उसको उत्तर दे। इन्कार करने मे भी, जहाँतक हो, रुखाई से काम न लिया जाय। यह नियम सेवार्थी भिखारियों पर लागू होता है;

पेटार्थी या डाकू भिखारी पर नहीं—उनको तो भिक्षा, दान या सहायता देना घर की लक्ष्मी को कूड़े पर फेंकना है।

भिखारियों के लिए—

(१) केवल सार्वजनिक कार्य के लिए ही भिक्षा माँगने जायं।

(२) अपने ख़र्च-वर्च के लिए किसी व्यक्ति से कुछ न माँगें—संस्था या अपने अंगीकृत कार्य पर अपना बोझ डाले और सो भी उतना ही, जितना भरण-पोषण के लिए अति आवश्यक है। भूखों मरने की नौबत आने पर भी अपने पेट के लिए किसी के आगे हाथ न फैलावें।

(३) जब वह भिक्षा माँगने निकला है, तब मान-अपमान, आशा-निराशा से ऊपर उठकर दाता के पास जाय। सहायता मिल जाने पर हर्ष से फूल न उठे, न मिलने पर दुखी न हो। मिल जाने पर दाता को धन्यवाद अवश्य दिया जाय; पर न मिलने पर तनिक भी झुँझलाहट न दिखाई जाय—उसे कोसना तो अपने को भिक्षुक की श्रेष्ठता से गिरा देना है।

(४) भिक्षा माँगने तभी निकले जब काम बिल्कुल अड़ ही जाय।

(५) धन के हिसाब-किताब और ख़र्च-वर्च में बहुत चौकस और सावधान रहे। कार्य-संचालन में प्रमाद

या आलस्य न करे। अन्यथा उसका भिक्षा माँगने का अधिकार कम हो जायगा।

(६) दाताओं पर प्रभाव जमाने के लिए आडम्बर न रचे। उन्हें फुलसाने के लिए व्यर्थ की तारीफ न करे। डराकर दान लेने का तो स्वप्न मे भी ख़याल न करे।

(७) अपने कार्य मे जिन-जिन लोगों की रुचि हो उन्हीं के पास सहायता के लिए जाय।

(८) यह समझे कि संस्थायें और कार्य धन के बल पर नहीं, हमारे त्याग, तप और सेवा के बल पर ही चल सकती है। और यदि तप और सेवा न होगी तो धन भोग-विलास की सामग्री बन जायगा। स्थायी कोष बनाने के लिए धन संग्रह करने किसी के पास न जाना चाहिए।

मेरा ख़याल है कि यदि दाता और भिखारी दोनों इन बातों का ख़याल रखते रहेगे तो न कोई अच्छा कार्य धन के अभाव में बिगड़ने पावेगा, न धन का दुरुपयोग होगा, न दाता और भिखारी को परस्पर निन्दा या तिरस्कार करने का अवसर ही आवेगा। आदर्श दाता और आदर्श भिखारी जिस समाज में हो वह धन्य है। वह समाज कितना ही पीड़ित, पतित, पिछड़ा हुआ हो, उसका उद्धार हुए बिना रह नहीं सकता।

---

[४]

हमारे पाप

जिस कार्य से व्यक्ति और समाज को दुःख पहुँचता है, उनकी हानि होती है, उसे पाप कहते हैं और जिस काम से उन्हें सुख मिलता है, उनका लाभ होता है, उसे पुण्य। जिस काम से केवल व्यक्ति की हानि होती है वह व्यक्तिगत पाप, जिससे समाज की हानि हो उसे सामाजिक पाप, और जिससे राष्ट्र को नुक़सान पहुँचता है वह राष्ट्रीय पाप है। पाप का फल अधोगति के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए पाप करने की स्वाधीनता मनुष्य को नहीं दी गई है। फिर भी व्यक्तिगत पाप करने में मनुष्य जितना स्वाधीन हो सकता है उतना सामाजिक पाप करने में नहीं, और जितना सामाजिक पाप करने में वह स्वतंत्र समझा जा सकता है उतना राष्ट्रीय पाप करने में नहीं। क्योंकि व्यक्तिगत पाप के फल से स्वयं उसकी अपनी हानि होती है, लेकिन सामाजिक

और राष्ट्रीय पाप से सारे समाज और राष्ट्र को हानि पहुँचती है। जैसे मैले कपड़े पहनना, या कच्ची रोटी खाना, व्यक्तिगत पाप है क्योंकि इससे जो बीमारी पैदा होती है उसका फल प्रधानतः उस व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परन्तु व्यभिचार एक सामाजिक पाप है, क्योंकि, इससे सारे समाज की जड़ खोखली होती है। इसी प्रकार विदेशी वस्तु का व्यवहार राष्ट्रीय पाप है, क्योकि, इससे राष्ट्र में दुर्बलता आती है। ज्यों-ज्यो मनुष्य के बुरे कर्मों का फल अधिकाधिक लोगों को भोगना पड़ता हो त्यों-त्यों उनके बुरे कामों की स्वतन्त्रता कम होती जाती है। मनुष्य ने ही अनेक प्रकार के अनुभवों और व्यवहारों को देखकर अच्छाई और बुराई के अनेक नियम बना दिये है, जिन्हें हम पाप या पुण्य अथवा नीति और अनीति के नियम कहते हैं। ये इस उद्देश्य से बनाये गये हैं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हो, उन्हें सुख पहुँचे, वे पूर्णता को प्राप्त करें। इन नियमों की सबसे श्रेष्ठ कसौटी यह है कि मनुष्य खुद स्वतंत्र और सुखी रहे; परन्तु दूसरे की स्वतन्त्रता और सुख में उसके कारण कमी न हो। अर्थात् मनुष्य न केवल अपनी स्वतन्त्रता और सुख की रक्षा करे, बल्कि दूसरों की सुख-स्वतन्त्रता की भी उतनी रक्षा करे, इसी का नाम है संयम। संयम स्वतन्त्रता का मूल है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी होता है वह उतना ही अधिक स्वतन्त्र हो सकता है।

क्योंकि वह जितना ही अधिक औरों के सुख, सुविधा और स्वतन्त्रता का विचार रक्खेगा उतना ही दूसरे उसके सुखादि का खयाल रक्खेंगे और इससे उसकी स्वतंत्रता अपने आप बढ़ जाती है। संयम-हीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता और अन्त को अत्याचार में परिणत हो जाती है और उसका आगे चल-कर परिणाम होता है यह कि मनुष्य को अपनी सारी स्वतन्त्रता खो देनी पड़ती है।

स्वाधीनता में मनुष्य पाप कम करता है, पराधीनता में अधिक। क्योंकि स्वाधीनता में मनुष्य का जीवन उतना आत्म-हीन नहीं होता, जितना पराधीनता में होता है। स्वाधीनता में भले-बुरे की जिम्मेवारी खुद उसीपर होती है, पराधीनता में दूसरे पर। मनुष्य पाप तब करता है जब पुण्य करते हुए उसे हानि होने लगती है। जब सच बोलने से हानि होती है, तो मनुष्य झूठ बोलकर लाभ उठाने की चेष्टा करता है। जब न्यायोचित साधनों द्वारा मनुष्य अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति नहीं कर पाता, तब वह बुरे मार्ग का अनुसरण करता है। यदि किसी समाज में युवकों को कन्यायें न मिलती हों, विधवाओं को जबर्दस्ती विवाह से रोका जाता हो, तो वहाँ व्यभिचार फैलना स्वाभाविक हो जाता है। जिस राज्य में कृत्रिम बन्धनों द्वारा मनुष्य इस तरह जकड़ दिया गया है कि उसे सच बोलने तक में भय मालूम होने लगता है, तब उसमें उस राज्य को उखाड़

फेंकने के भाव प्रबल होने लगते हैं। मनुष्य पाप दो कारणों से करता है—एक तो संयम का महत्व न समझने से, अर्थात् दूसरों की स्वाधीनता और सुख का ख़याल न रखने से, और दूसरे अपनी स्वाधीनता के अपहरण से, अर्थात् अपने न्यायोचित अधिकारों के अनुसार वर्तने की सुविधा न रहने से। दोनों बातों का एक ही निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता के अपहरण से मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। जिसकी स्वतन्त्रता छीन ली गई है, वह भी पाप करने लगता है और जो स्वतन्त्रता का अपरहण करता है, वह भी पापी हो जाता है। पीड़ित और पीड़क दोनों पापी होते हैं। पीड़ित भयभीत रहता है, इसलिए गुप्त पाप करता है। पीड़क उद्धत होता है, इसलिए अत्याचारी बनकर विधान और क़ानून के नाम पर पाप को पुण्य का रूप देकर पाप करता है। पीड़ित की आत्मा दब-दबकर पाप करती रहती है, पीड़क खुल-खुलकर पाप करता है। पीड़ित एक समय के बाद जागरूक होता है और साहस एकत्र करके पीड़क के ख़िलाफ़ बग़ावत पर उतारू हो जाता है; पर पीड़क पीड़ित और पतित होने के पहले सहसा नहीं उठ पाता। पीड़ित पापी सहसा उठ सकता है; पीड़क पापी नहीं। इसलिए कहा गया है कि पीड़क बनने से पीड़ित बनना कहीं अच्छा है। पर सच पूछिए तो पीड़क और पीड़ित दोनों बनना, या बने रहना, पाप है। पीड़ित बने रहकर मनुष्य

खुद अपने प्रति पाप करता है, बल्कि, पीड़क को पीड़क बना रहने देकर, उसके पापों में सहायक होता है। इस दृष्टि से दुहरा पापी है। गुलामी सबसे बड़ा पाप है।

भारत आज दुनिया में सब से बड़ा पापी है; क्योंकि वह सब से बड़ा गुलाम है। दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि इतना बड़ा विशाल देश इतनी सदियों से गुलाम बना आ रहा हो और चारों तरफ़ से इतना जकड़ा हुआ हो कि कहीं से भी निस्तार की गुंजाइश नहीं मालूम होती। बड़ों-बड़ों की अक़ल गुम हो रही है। यदि काक-दृष्टि से देखें, यदि कृष्ण-पक्ष का अवलोकन करें, तो दुनिया का कोई ऐसा पाप नहीं, जो यहाँ काफ़ी मात्रा में न दिखाई देता हो। मिस मेयो ने हमारे कुछ पापों के नाम गिनाये तो हम बिगड़ पड़े और उसे कोसने लगे। 'अबलाओं का इन्साफ़' देखकर उसपर घृणा प्रकट करने लगे। पर जबतक उनमें लिखी आधी बातें भी सही हैं, और हम उन बुराइयों को दूर करने के लिए प्राण-पण से उद्योग नहीं करते, तबतक हम अपने पापों से कैसे छूट सकते हैं? अबलाओं के इन्साफ़ की बातों पर मुझे सहसा विश्वास नहीं हुआ, पर एक मित्र ने कहा—'ये सब बुराइयाँ मैं राजपूताने के किसी भी एक ही नगर में दिखा सकता हूँ।' 'राजस्थान की समस्यायें' शीर्षक एक लेख में मैंने व्यभिचार को भी स्थान दिया था। इसपर एक

आदरणीय मित्र ने कहा—'उपाध्यायजी, आपने अभी राज-पूताने के देहातों को नहीं देखा है। शहरों की बुराइयों से हम देहात का अन्दाज़ नहीं लगा सकते।' यह लेख मैं एक देहात में बैठकर लिख रहा हूँ, जो कि रेल्वे-स्टेशन से बीस मील दूर है। इस तरफ से ब्राह्मण-वैश्यों के घर की कथाओं और लीलाओं को सुनता हूँ, तो सिर चक्कर खाने लगता है। घर और कपड़ों की स्वच्छता तो मानो इनसे डरती है। इधर बारह-चौदह वर्ष के लड़कों की शादी करने का आम रिवाज है। लड़कियों की उम्र लड़कों से बहुधा बराबर या बड़ी होती है; इसलिए, कहते हैं, अधिकांश लड़कपन में बिगड़ जाती है। विधवायें मानों गुण्डों और व्यभिचारियों की सम्पत्ति समझी जाती हैं। घर ही में अनर्थ होते देखे जाते हैं। पचीस फ़ी सदी विधवायें साफ-पाक मानी जाती हैं। बाल-विधवाओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है। गर्भपात की बातें आये दिन कानों पर आती रहती हैं।

इसी गाँव के सम्बन्ध की कुछ ऐसी बीभत्स घटनायें मैं जानता हूँ, जिन्हें देखकर मनुष्य का सिर नीचा हो जाता है और हिन्दू-धर्म की छाती पर तो वे मृत्यु-प्रहार ही के समान हैं। पर उन सब बातों का उल्लेख करके मैं दूसरा 'अबलाओं का इन्साफ' लिखना नहीं चाहता। जिसको आँखें, हृदय और बुद्धि है, वे ऐसी घटनायें देखकर चुप नहीं बैठ सकते। जो लोग इनकी ओर आँखें मूँदे हुए हैं उनसे

मैं कहूँगा कि इस तरह ठण्डे दिल से अपना और अपनी जाति का सर्वनाश न करो। इन पापों की ज्वाला तो तुम्हें जड़-मूल से भस्म कर देगी। जिन लोगों ने इन बुराइयों को नीति-अनीति के दायरे से उठाकर कुदरत के क़ानून के दायरे में ला रक्खा है, उनसे मैं कहता हूँ—कामान्धता की वेदी पर मनुष्य-जाति के कई सद्गुणों और सद्भावों की आहुति क्यों करते हो? जो धीमे सुधारक हैं, उनसे कहना चाहता हूँ कि बुराई सचमुच बुराई है तो फिर उसे एकाएक निकाल डालने में हिचकिचाहट क्यों? परदा यदि बुराई है और परदे में यदि कई बुराइयाँ छिपी रहती हैं, तो घर के बड़े-बूढ़ों के लिहाज़ से उसे हम कबतक सहन करते चले जायँ? जाति और राष्ट्र की बर्बादी की ओर हम देखें, या बड़े-बूढ़ों की नाराज़गी की ओर? समष्टि के हित के सामने क्या हमें व्यक्ति की कल्पित प्रसन्नता को खो देने के लिए तैयार न रहना चाहिए? हमारी सहृदयता क्या तक़ाज़ा नहीं करती कि हम समाज की विधवाओं की रक्षा, सधवाओं के सतीत्व की रक्षा और नवयुवकों को ऐसी मानसिक यातनाओं से बचाने के लिए अपनी व्यक्तिगत असुविधाओं को ताक पर रख कर उनके लिए दौड़ पड़ें?

धनिकों और रईसों में व्यभिचार का कारण है विषय-तृष्णा के कारणों की बहुलता और उसकी तृप्ति के साधनों की कमी; मध्यमवर्ग के लोगों की व्यभिचार-प्रवृत्ति का

कारण है दरिद्रता। एक बड़े राज्य के चीफ मेडिकल आफीसर ने उस दिन कहा कि आम लोगों के व्यभिचार के मूल कारण की खोज में जो मैं निकला तो पता लगा कि आमदनी की कमी और आवश्यकताओं की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापं' दरिद्रता अनेक अनर्थों की जड़ होती है। भारतवर्ष मुसलमानों के समय में चाहे पराधीन हो गया हो, पर दरिद्र नहीं हुआ था। लेकिन इस अंग्रेजी राज्य में तो सोलह आना पराधीन और बीस आने दरिद्र भी हो गया है। जिस देश के ग़रीब लोग गोबर में से अनाज चुन कर पेट पालने पर मजबूर होते हैं, उसकी दरिद्रता की करुण-कथा किस लेखनी से लिखे ? वहां यदि स्त्रियों को अपना सतीत्व चुराकर बेचना पड़े तो कौन आश्चर्य की बात ? आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बुराइयों से हमारे दिल को जैसी चाहिए चोट नहीं पहुँचती। अपने सुख और आराम की चिन्ता या धुन मे अपने पड़ौसी का करुण-क्रन्दन हमारे कानों तक नहीं पहुँचता ! हम ब्याह-शादियों में, अपने ऐश-आराम में, तथा मामले-मुक़द्दमों मे हजारों रुपया पानी की तरह बहा देंगे। पर ग़रीबों की ग़रीबी दूर करने के लिए, विधवाओं के धर्म की रक्षा के लिए खादी न पहनेंगे—खादी के लिए रुपया न देंगे ! एक ओर धन-वैभव को ऐश-आराम में लगाकर हम अपने आस-पास विषय-भोग का और उसके

फल-स्वरूप व्यभिचार का वायु-मण्डल निर्माण करते हैं, और दूसरी ओर अपने पड़ोसियों को दरिद्र बनाकर या बना रहने देकर उन्हें व्यभिचार के लिए मजबूर करते हैं। इस तरह हम दुहेरे पापी बनते हैं।

जो अच्छा काम स्वेच्छा-पूर्वक किया जाता है वह भूषण होता है, और जो दूसरों के दवाव से किया जाता है वह दूषण की सीमा को पहुँच जाता है। यदि कोई अपनी खुशी से विवाह नहीं करता, तो इससे उसे सब तरह लाभ पहुँचता है। यदि कोई किसी के दबाव या संकोच से विवाह नहीं करता, तो उसमें छिपे-छिपे पाप करने की कुवृत्ति पैदा होने का भय रहता है। स्वेच्छापूर्वक किये गये पाप के प्राय-श्चित्त से मनुष्य की आत्मा का विकास होता है। परन्तु बल-पूर्वक दिये गये दण्ड से उसका तेजोनाश होकर आत्मा दब जाती है। इसी प्रकार जो दरिद्रता खुशी-खुशी प्राप्त की जाती है वह मनुष्य के लिए भूषण-रूप होती है; परिस्थिति से दबकर इच्छा के विरुद्ध जो दरिद्रता अख़्त्यार करनी पड़ती है, वह मनुष्य के पतन का कारण होती है। महा-त्माजी, लोकमान्य, मालवीयजी, लालाजी, नेहरूजी, देश-बन्धु तथा उनके सैकड़ों अनुयायी जिन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक दरिद्रता अंगीकार की, उनमें तथा भारत के करोड़ों लोग जिन्हें ब्रिटेन की व्यापारिक लूटनीति और आसुरी साम्राज्य-वादिता ने राह का भिखारी बना दिया है, उनमें ज़मीन

आसमान का अन्तर है। सच्चा धनी वह है जिसने धन को ठोकर मार दी, या धन को दीन-दुखियों की सेवा मे लगाकर खुद निर्धन की तरह रहता है। वह तो धन का गुलाम है, जो धन को बटोर-बटोरकर अपने ही सुख-चैन मे लगाता है। धन का दूसरा नाम है भय। जिसको निर्भय होना हो वह निर्धन बनना सीखे। जिसको तेजस्वी बनना हो, वह दरिद्रता का व्रत धारण करे। भारत का वैश्य-समुदाय आज इसीलिए दब्बू और कायर बना हुआ है कि उसे धन को बटोरकर रखने का असीम लोभ है। यूरोप के वैश्य जो सेना और सत्ता की सहायता से तीस करोड़ भारत-वासियों को पद-दलित करके उनके जड़-मूल को मिटाने का पाप कमा रहे है। उसका कारण है उनका धन-लोभ। इसलिए श्री शंकराचार्य ने कहा है—

'अर्थमनर्थंभावय नित्यं
नास्ति ततः सुख लेशः सत्यम्।

परन्तु धन का लोभ एक बात है, और मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ के लिए धन की पर्याप्तता दूसरी बात। दरिद्र उस मनुष्य को कहते है, जिसके पास अपनी साधारण आवश्कताओ की पूर्ति के योग्य धन या धन के साधन न हो। भारत इस अर्थ में आज कंगालों का घर बना हुआ है। आज यहां सोलहोंआने दरिद्रनारायण का निवास है।

लक्ष्मीनारायण की नहीं, अब यहाँ दरिद्रनारायण की पूजा होनी चाहिए।

इस इतने विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमारे सबसे बड़े तीन पाप हैं—(१) दरिद्रता, (२) व्यभिचार, (३) पराधीनता। दरिद्रता से व्यभिचार फैलता है और पराधीनता दरिद्रता का मूल कारण है। इस पराधीनता से छुटकारा बिना न पूरी तरह दरिद्रता ही दूर हो सकती है, न व्यभिचार ही। व्यभिचार हमारा सामाजिक पाप है, दरिद्रता राष्ट्रीय पाप है, और पराधीनता मानवी पाप है। इस त्रिविध पाप की एकमात्र औषध है स्वाधीनता। आइए, इसी की प्राप्ति में हम अपनी सारी शक्ति लगावें!

संस्कार

१. विवाह
२. विवाह-संस्कार
३. नव-दम्पती के लिए
४. पतीव्रत-धर्म

[१]

विवाह

एक मत ऐसा चलता हुआ देख पड़ता है कि स्त्री-पुरुषों को विवाह के बन्धन में बँधने की आवश्यकता ही नहीं। यह इच्छा-तृप्ति का विषय है— जैसा मौक़ा पड़ जाय, इच्छा तृप्त कर ली जाय। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि विवाह तो एक प्रकार का पतन है, आदर्श अवस्था तो स्त्री-पुरुषों की एक मात्र ब्रह्मचर्य-मय जीवन ही है। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि विवाह के रहस्य को हम लोग अच्छी तरह समझ लें।

विवाह के मूल पर जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि आरम्भ में विवाह शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियाराधन के लिए शुरू हुआ। यह तो सबको मानना ही होगा कि स्त्री और पुरुष में एक अवस्था के बाद एक कोमल विकार उत्पन्न होने लगता है, जो दोनों को एक दूसरे की ओर खींचता है। एक अवस्था के बाद

यह विकार लुप्त हो जाता है। मेरा खयाल है कि आदिम काल में स्त्री-पुरुष इस विकार की तृप्ति स्वतंत्र रूप से कर लिया करते थे—विवाह-बंधन में पड़े बिना ही वे परस्पर अपनी भूख बुझा लिया करते थे। पर जब कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ, तब मनुष्य को ऐसे सम्बन्धों का भी नियम बना देना पड़ा; अथवा, यों कहिए कि, जब उसने इन उच्छृंखलताओं के दुष्परिणामों को देखा, तब उसकी एक सीमा बांधना उचित समझा और वहीं से कौटुम्बिक जीवन की शुरुआत हुई। एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्पर्क होते रहने से गुप्त रोग फैलने लगे होंगे। संतान-पालन और संतति-स्नेह का प्रश्न उठा होगा। विरासत की समस्या खड़ी हुई होगी। तब उन्हें विवाह-व्यवस्था करना लाजिमी हो गया। विवाह का उद्देश्य है एक स्त्री का एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रखना। इसके विपरीत अवस्था का नाम हुआ व्यभिचार। उन्हें ऐसे उपनियम भी बनाना पड़े जिससे कारणवश एक पुरुष का एकाधिक स्त्री से अथवा एक स्त्री का एकाधिक पुरुष का सम्बन्ध करना जायज समझा गया। विवाह-संस्कार होने के पहले स्त्री-पुरुष का परस्पर शारीरिक सम्बन्ध हो जाना व्यभिचार कहलाया। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष का दूसरे स्त्री-पुरुषों से ऐसा सम्बन्ध रखना भी व्यभिचार हुआ।

फिर जब मनुष्य ने देखा कि यह सीमा बांध देने पर तो लोग विषय-भोग में मस्त रहने लगे, तब उसने तजवीज़ की कि विवाह इंद्रिय-तृप्ति के लिए नहीं, संतति उत्पन्न करने के लिए है। स्त्री-पुरुष तभी सम्भोग करें, जब उन्हें संतति की इच्छा हो। फिर जैसे-जैसे मनुष्य जाति का अनुभव बढ़ता गया, विचार-दृष्टि विशाल होती गई, तैसे-तैसे उसके जीवन का आदर्श भी ऊँचा उठता गया। अब मनुष्य की विचारशीलता इस अवस्था को पहुँची है कि विवाह न शारीरिक सुख के लिए है, न संतति उत्पन्न करने के लिए है, वह तो आत्मोन्नति के लिए है। सुख, तृप्ति और संतति उसका परिणाम भले ही हो, वह उद्देश्य नहीं। इस उद्देश से जो गिर गया वह शारीरिक सुख, इन्द्रियतृप्ति और संतति पाकर रह गया—आगे न बढ़ सका। अब तो श्रेष्ठ विवाह वह कहलाता है, जो दोनों को अपने जीवन-कार्य को पूरा करने में सहायक हो; योग्य वर-वधू वे कहलाते हैं, जो विकार के अधीन होकर नहीं बल्कि समान उद्देश्य और समान गुणों से प्रेरित होकर विवाह करते हैं। ऐसे विवाहों के रास्ते में जाति, धर्म-मत धन, ये बाधक नहीं हो सकते।

जाति, धर्म-मत आदि का विचार विवाह के सम्बन्ध में करना कोई आत्मिक आवश्यकता नहीं है। यह तो कौटुम्बिक या सामाजिक सुविधा का प्रश्न है, जो कि आ-

त्मिक आवश्यकता के मुकाबले में बहुत गौण वस्तु है। जो विवाह इंद्रिय-तृप्ति और कौटुम्बिक सुविधाओं के लिए किये जाते हैं, वे कनिष्ठ हैं, और उनके विषय में इन सब बातों का लिहाज़ रखना अनिवार्य हो जाता है।

फिर भी व्यभिचार से विवाह-संस्कार से पहले स्त्री-पुरुषों के ऐसे सम्बन्ध हो जाने अथवा विवाहोपरांत ऐसे अनुचित सम्बन्ध करने से—तो यह कनिष्ठ प्रकार का विवाह श्रेष्ठ ही है। व्यभिचार की स्वतंत्रता सामाजिक और नैतिक अपराध इसलिए है कि अब मनुष्य-जाति उन्नति की जिस सीढ़ी पर पहुँच चुकी है उससे वह उसे पीछे हटाती है—आजतक के उसके श्रम, अनुभव और कमाई पर पानी फेरती है। मनुष्य-जाति अपनी इस अपार हानि को कदापि सहन नहीं कर सकती। अपनी इसी संस्कृति की रक्षा के निमित्त मनुष्य को विवाह को यहाँ तक नियमित करना पड़ा कि स्वपत्नी से भी नियम-विपरीत सम्भोग करने को व्यभिचार ठहरा दिया—अब तो विचारकों की यह धारणा होने लगी है कि आत्मिक उद्देशों की पूर्ति के लिए जो विवाह किये जाते हैं उनमें स्त्री-पुरुष यदि संयम न रख सकें तो वह भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है।

---

[२]

विवाह-संस्कार

आज चि० बहन·····के विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में वर-वधू को ही नहीं, आप समस्त उपस्थित महानुभावों को यह निबन्ध भेट करता हूँ। विवाह में कन्या के रिश्तेदार कन्या को दहेज—अपने प्रेम की भेट—देते हैं। विवाह में उपस्थित रिश्तेदार जिनके घर विवाह होता है, उनकी कुछ न कुछ सेवा करते हैं—विवाह-कार्य में यथाशक्ति सहायता करते हैं। मैंने बहन·····को अपनी तरफ से भेट देने का और उसके विवाह में सहायता देने का यही सबसे अच्छा तरीका सोचा कि आप लोगों के सामने यह निवेदन करूँ कि विवाह-संस्कार वास्तव में क्या वस्तु है और उसका वर्त्तमान रूप क्या हो गया है। धन वा आभूषण के रूप में अस्थायी भेट देने की अपेक्षा यह भेट अधिक स्थायी है। और पहली की बनिस्बत यह दूसरी भेट ही मेरे पास है भी। पहली के न होने का मुझे

जरा भी अफसोस नहीं। दूसरी के होने की खुशी जरूर है।

विवाह-संस्कार हम हिन्दुओं का बहुत प्राचीन संस्कार है। सोलह संस्कारों में एक है। गृहस्थाश्रम का फाटक है। जो कन्या या युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उसके लिए विवाह-संस्कार आवश्यक है। जो कन्या या युवक ब्रह्मचर्य-पूर्वक सारा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं है। विवाह के मुख्य उद्देश मेरी समझ के अनुसार इतने है—

१ कुदरती इच्छा की पूर्ति।

२ धर्म का पालन।

३ समाज का कल्याण।

अब हम क्रम से इन पर विचार करें—

कुदरती इच्छा की पूर्ति

एक अवस्था से लेकर एक अवस्था तक स्त्री और पुरुष दोनो के मन में विवाह करने की इच्छा पैदा होती है और रहती है। उस अवस्था में कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुष एक साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। समाज-शास्त्रियों ने यह अवस्था लड़की के लिए १५—२० से लेकर ४०—४५ तक और लड़के के लिए २५-३० से ले कर ५०-५५ तक बताई है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी २५ वर्ष तक

ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद ही गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का नियम बताया है। कन्या की अवस्था जब २० के आस-पास और ब्रह्मचारी की २५ के आस-पास हो तब उनके माता-पिता को उचित है कि वे उनकी इच्छा को जानकर सम-गुण-शील वर-वधू को देखकर विवाह-संस्कार कर दें। यदि वे ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही रहना चाहें तो उन्हें रहने दें। जबरदस्ती विवाह-पाश में न बाँधें। जिसकी इच्छा हो वह विवाह कर ले, जिसकी इच्छा हो वह ब्रह्मचारी बनकर रहे—यह नियम सबसे अच्छा है। इस नियम का पालन करने से ही कुदरत की इच्छा की पूर्ति हो सकती है—विवाह का पहला उद्देश पूर्ण हो सकता है।

धर्म का पालन

धर्म का अर्थ है लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन। दूसरे शब्दों में कहें तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का साधन। या यों कहें—धर्म वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य खुद सुख प्राप्त करता हुआ औरों को सुखी बनाता है। तीनों अर्थों की भाषा यद्यपि जुदी-जुदी है तथापि मूल भाव एक ही है—स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना। स्वार्थ व्यक्तिगत होता है और परमार्थ समाजगत। मनुष्य जब अपने अकेले का विचार करता है तब वह स्वार्थी होता है। जब वह औरों का भी विचार करता

है तब परमार्थी होता है। वैवाहिक जीवन स्वार्थ और पर-मार्थ दोनो के लिए है। हम लोगों में यह प्राचीन धारणा भी चली आती है कि गृहस्थाश्रम में मनुष्य प्रपंच और पर-मार्थ दोनों को साध सकता है। अर्थात् विवाह तभी सफल माना जा सकता है जब कि विवाहित दम्पती के द्वारा इस धर्म का पालन होता हो, उनके द्वारा खुद अपने को, कुटुम्ब को और सारे समाज को लाभ और सुख पहुँचता हो। इसलिए हिन्दुओं मे विवाह-बंधन धर्म-बंधन माना जाता है। हिन्दू वर-वधू विवाह-संस्कार के द्वारा केवल अपने शरीर को ही एक दूसरे के अर्पण नही करते हैं वल्कि अपने मन और आत्मा को भी एक कर देते हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ दो में से एक का वियोग हो जाने पर भी दोनो का सम्बन्ध नही टूटता। सन्तति विवाह का हेतु नही, फल है। हेतु है धर्म-पालन। गृहस्थ का धर्म क्या है ? स्वयं सुखी रहना और दूसरों को सुखी बनाना। गृहस्थ स्वयं सुखी किस तरह रह सकता है ?

(१) अपने शरीर को नीरोग रख कर, अर्थात् गृहस्था-श्रम में भी ब्रह्मचर्य की ओर विशेष ध्यान देते हुए, स्वच्छता और आरोग्य के नियमों का पालन करते हुए।

(२) अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखते हुए, उच्च, उदार स्नेहपूर्ण और सुसंस्कृत बनाते हुए।

(३) आत्मा को उन्नत बनाते हुए। अर्थात् सब को

आत्मस्वरूप देखते हुए; सत्यनिष्ठा, निर्भयता, नम्रता, दया आदि सद्गुणों का परिचय देते हुए। यदि एक ही शब्द में कहें तो शरीर, मन और आत्मा तीनों को एक सूत्र में बाँधते हुए। अर्थात् जो हमारी आत्मा को कल्याणकारक प्रतीत हो वही हमारे मन को प्रिय हो और उसीके साधने में शरीर कृतकार्य हो। जैसे यदि किसी दुःखी या रोगी को देख कर हमारी आत्मा में यह प्रेरणा हुई कि चलो इसकी कुछ सेवा करें, किसी तरह इसके दुःख दूर करने का प्रयत्न करें, तो तुरन्त हमारा मन इस विचार से प्रसन्न होना चाहिए। और हमारे शरीर को उसके लिए दौड़ जाना चाहिए। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि हमारी आत्मा का यह धर्म ही होना चाहिए कि रोगी या दुःखी को देख कर उसकी सेवा करने की प्रेरणा हुए बिना न रहे। जिस प्रकार पानी की धारा जबतक अपने रास्ते के गड्हे को भर नहीं देती तबतक आगे नहीं बढ़ती, उसी तरह हमारा यह स्वभाव धर्म हो जाना चाहिए कि जबतक समाज के दुःखी-दर्दी की सेवा हमसे न हो हमारा क़दम आगे न बढ़ सके। यही धर्म-पालन की चरम सीमा है, यही गृहस्थाश्रम का धर्म है। ईमानदारी से धर्म-पूर्वक स्वोपार्जित धन, नियम-पूर्वक प्राप्त सुसन्तति, सद्गुणों से आकर्षित इष्ट-मित्र ये भी सुख को बढ़ा सकते हैं। पर सुख के साधन नहीं हैं—ये तो सुख की शोभा हैं—सोने में सुगन्ध हैं।

समाज का कल्याण

अब यह सवाल रहा कि दूसरे को सुखी किस तरह बना सकते हैं? दूसरी भाषा में समाज का कल्याण किस तरह कर सकते हैं? मनुष्य जबतक अकेला है, विवाह नहीं किया है, तबतक वह अपने को अकेला समझ सकता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्यों का ही विचार कर सकता है। पर एक से दो होते ही, दूसरे का साथ करते ही, विवाह होते ही, वह समाजी हो जाता है। कुटुम्ब समाज का एक छोटा रूप है। या यों कहें कि समाज कुटुम्ब का एक बड़ा रूप है। विवाह होते ही अपने हित के ख़याल के साथ-साथ और कुटुम्बियों के हित का ख़याल ही नहीं, जिम्मेदारी भी हमें महसूस करनी चाहिए।—तो सवाल यह है कि विवाहित दम्पती कुटुम्ब या समाज की सेवा या कल्याण किस तरह करे? इसका सरल और सीधा उत्तर यही है कि कुटुम्ब या समाज मे जो खामियाँ हों, जो तकलीफें हों, उनको दूर करके। जैसे अगर कोई बुरी रीति या चाल पड़ गई हो तो उसे हटाना, खुद उसका पालन न करना और औरों को भी समझाना। अगर कोई विधवा या विद्यार्थी या अनाथ भोजन-पान की या और किसी तरह की तकलीफ पा रहे हो तो उसे दूर करना, उनके साथ हमदर्दी बताना, उन्हे तसल्ली देना, उनके घर जाना, या उन्हे अपने घर लाना, कोई बुरा काम कर रहा हो तो उसे

समझाना, बुरे काम से हटाने का यत्न करना, पढ़ने-पढ़ाने और ज्ञान बढ़ाने के साधन न हों तो उनका प्रचार करना। सफ़ाई और तन्दुरुस्ती की ज़रूरत और फ़ायदे समझाना इत्यादि-इत्यादि।

इतना होने पर ही वर-वधू का विवाहित होना सार्थक हो सकता है।

वर्त्तमान रूप

पर विवाह-संस्कार का वर्तमान रूप हमारे यहाँ इससे भिन्न है। केवल यही नहीं कि हममें से बहुतेरे विवाह के उद्देश्यों को नहीं जानते बल्कि संस्कार की विधि भी बहुत बिगड़ गई है। विवाह-संस्कार मुख्यत: एक धर्म-विधि है। पर आजकल उसका धार्मिक रूप एक क़वायद मात्र रह गई है और सामाजिक रूप या लोकाचार इतना बेडौल हो गया है कि जिसकी हद नहीं! विवाह के बाद वर-वधू सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हैं। इसलिए धर्म-संस्कार के साथ बहुतेरी सामाजिक रीतियाँ—लोकाचार—जोड़कर हमने उसे एक जलसा बना दिया है। धार्मिक दृष्टि से विवाह-संस्कार में केवल दो ही विधियाँ हैं। पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के द्वारा दम्पती के सम्बन्ध की शुरुआत होती है और सप्तपदी अर्थात् चौकी के द्वारा वह प्रेम-बन्धन दृढ़ किया जाता है। इसके

अतिरिक्त जितनी विधियाँ हैं वे सब अनावश्यक या कम आवश्यक हैं। बड़े-बड़े भोज—पंक्तियाँ—भारी लैनें, बहुतेरा दहेज, बागवाड़ी, मायरा, आतिशबाजी, नाच, आदि सामाजिक विधियाँ केवल लोकाचार है। सामाजिक विधियाँ समाज की आवश्यकता के अनुसार समाज के धुरीण लोग डालते है। समाज की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है। वह हमेशा सारासार का विचार करता रहता है और अच्छी बातो को ग्रहण तथा बुरी बातो को त्याग करता रहता है। इसीसे उसका कार्य-क्रम बदलता रहता है। वह समाज के हित की बात समाज मे दाखिल करता है और अहित की बात को निकाल डालता है या उसका विरोध करता है। समाज के चाल-ढाल में यह अन्तर, यह परिवर्तन हम बराबर देखते है। इसीके बल पर समाज जीवित रहता है और आगे बढ़ता है। यही समाज के जीवन का लक्षण है। चंदेरी की पगड़ियाँ गईं, टोपियाँ आईं। इटालियन और फैल्ट टोपियाँ जा रही है, और खादी-टोपी आ रही है। अंगरखा चला गया, कोट आ गया। जूतियां गईं, बूट आये और अब चप्पल आ रहे हैं। ब्राह्मणों की त्रिकाल-संध्या गई, एककाल संध्या भी बहुत जगह न रही। अब भी ब्राह्मण ईश्वरोपासना करते हैं, पर बाहरी स्वरूप बदलता जा रहा है। सोला गया, धोतियाँ रह गईं। छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ब्राह्मणों के षट्कर्म गये, भिक्षा-

वृत्ति आई। अब सेवा-वृत्ति ने उसका स्थान ले लिया। हम जरा ही गौर करेंगे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन क्षण-क्षण में बदल रहा है। हमारे समाज की भीतरी और बाहरी अनेक बातों में रूपान्तर हो रहा है। विवेकपूर्वक जो रूपान्तर किया जाता है उससे समाज को लाभ होता है, समाज की उन्नति होती है। आँखें मूँदकर जो अनुकरण किया जाता है उससे समाज की अधोगति होती है। अतएव सामाजिक रीति-नीति में देश-काल-पात्र को देखकर विवेक-पूर्वक परिवर्तन करना समाज के धुरीणों का कर्तव्य है। यह पाप नहीं, पुण्य कार्य है। जिन चालों से धर्म-संस्कार का कोई सम्बन्ध नहीं, जिनमें अकारण धन-व्यय होता है, सो भी ऐसे जमाने में जब कि आमदनी के साधन दिन-दिन कम होते जा रहे हैं, जिनसे समाज में दुराचार की वृद्धि होती है, उनका मिटाना समाज के धुरीणों और हित-चिन्तकों का परम कर्तव्य है। पिछले ज़माने में, जब कि आमदनी काफ़ी थी और इस कारण लोगों को उन रिवाजों में आज की तरह बुराई नहीं दिखाई देती थी, उनके कारण विवाह की शोभा बढ़ती थी, आज तो 'शोभा' के बजाय वे भार-भूत और बरबादी-रूप मालूम होते हैं। मैं श्रीमन्तों की बात नहीं करता—मुझ जैसे ग़रीबों की बात करता हूँ। श्रीमन्त तो हमारे समाज में बहुत थोड़े हैं। ग़रीबों की ही संख्या ज्यादा है। श्रीमन्तों को उचित है कि वे ग़रीबों का

ख़याल रक्खें। ग़रीबों को उचित है कि वे श्रीमन्तों का अनुकरण न करें। धन की बात छोड़ दें तो भी गालियाँ गाना, नाच, परदा, बहुतेरे गहने देना आदि विवाह-विधि के साथ जुड़ी हुई रूढ़ियाँ तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि भयंकर कुरीतियाँ तो श्रीमन्तों के यहाँ भी न होनी चाहिएँ। क्या धनी, क्या निर्धन, सबको इनसे हानि पहुँचती है। अपने जीते-जी शादी देख लेने के मोह से छोटे बालक-बालिकाओं की शादी कर देना, शक्ति से बाहर क़र्ज़ करके हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालना, कन्या-विक्रय करना-इन क्रमशः अधार्मिक, अनुचित और जंगली कुरीतियों को मिटाना धनी-ग़रीब, सबके लिए उचित है। बिना लड़के-लड़की की सलाह लिये अपनी मरज़ी से शादी कर देना भी बुरी प्रथा है। इससे कितने ही दम्पतियों को संसार-यात्रा यम-यातना के समान हो जाती है। हमें मोह और मनोवेग को रोककर बुद्धि, विचार और विवेक से काम लेने की परम आवश्यकता है। मैं कह सकता हूँ कि उपस्थित महानुभावों में से सैकड़ा ७५ तो ज़रूर मेरी तरह इन बातों मे सुधार चाहते होंगे; पर मै यह भी जानता हूँ कि उनमें से कितने ही वृद्ध स्त्री-पुरुषों के संकोच से सुधार नहीं कर पाते। उनकी इच्छा तो है। पर वे लाचार रहते हैं।

उपाय

सो इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि वृद्धजनों के लिए पुरानी बातों पर, फिर वे आज चाहे हानिकारक भी हो गई हों, चिपका रहना स्वाभाविक है। क्योंकि वे आजन्म उन्हींको अच्छा समझते आये हैं और जिसे वे अच्छा समझते हैं उसपर वे दृढ़ हैं और रहना चाहते हैं। यह उनका गुण हमें ग्रहण करना चाहिए। हमें भी उचित है कि जिन बातों को हम ठीक समझते हैं उनपर दृढ़ रहें। बुजुर्गों की सेवा करना, नम्रतापूर्वक उनसे व्यवहार करना हमारा धर्म है। उसी प्रकार हमें जो बात ठीक जँचे, जो हमें अपना कर्त्तव्य दिखाई दे उसका पालन करना, उसपर दृढ़ रहना भी हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो अपने बुजुर्गों के योग्य अपने को न साबित करेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि जो बात हमें उचित और लाभदायक मालूम होती है स्वयं उसके अनुसार अपना आचरण रखकर उसकी उपयोगिता उन्हें साबित कर दें। या तो उन्हें समझा-बुझाकर या अपने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा ही हम उन्हें उनकी उपयोगिता का क़ायल कर सकते हैं। यदि हम दो में से एक भी न करें तो इसमें उनका क्या दोष ? वे तो स्वयं अपने उदाहरण के द्वारा यह पाठ पढ़ा रहे हैं कि जिसको तुम अच्छा समझते हो वह करो, उसपर दृढ़ रहो, जैसा कि हम रहते हैं। हमें विश्वास रखना

चाहिए कि हमारे बड़े-बूढ़े इतने विचारवान् और विवेकी ज़रूर हैं कि वे मौक़े को देखकर सम्हल जायँगे और खुद आगे रहकर उन दोषों को दूर कर देंगे।

महानुभावो, अपने समाज के एक क्षुद्र व्यक्ति के नाते, जो अपने समाज के दुःख-सुख पर विचार करता रहता है, उसके दुःखों और बुराइयों को देखकर जिसका हृदय फटता रहता है, ऊपर लिखे विचार आपकी सेवा में पेश करता हूँ। इनमें यदि कुछ भी सार आपको मालूम हो तो मुझे विश्वास है कि आप उसका प्रचार करेंगे और यदि यह कोरा बकवाद पाया जाय तो मेरी अल्प बुद्धि पर दया करके, विवाहोत्सव के आनन्द का बहुमूल्य समय नष्ट करने के लिए, क्षमा प्रदान करेंगे। अन्त मे परमात्मा से प्रार्थना है कि वह अपने बड़े-बूढ़ों की तरह अपनी बुद्धि को अच्छी और हितकर लगनेवाली बात पर दृढ़ और अटल रहने की शक्ति हमको और विवाह-धर्म के पालन करने का उत्साह हमारे इन चिरंजीवी नववर-वधू को प्रदान करे, जिससे हमारे समाज का और उनका जीवन सुख, शान्ति और कल्याण-पूर्वक व्यतीत हो। इति शुभं भवतु। ❀

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

❀ अपनी एक बहन को, उसके विवाह के समय, लेखक की भेंट।

[३]

नव-दम्पती के लिए—

नवदम्पतियों को दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी कई कठिनाइयाँ अक्सर सामने आया करती हैं। कहीं पति-पत्नी का आपस में मन-मुटाव हो जाता है; कहीं दूसरे लोग उन्हें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ बहकाकर उनका गृह-जीवन क्लेशमय कर देते हैं; कहीं वे माँ-बाप से बिगाड़कर लेते हैं; कहीं कच्ची उम्र में माता-पिता के पद को पहुँच कर दुःखी होते हुए देखे जाते हैं और कहीं तरह-तरह के गुप्त रोगों के शिकार हो जाते हैं। बाल्यावस्था में हुए विवाहों के ऐसे दुष्परिणाम बहुत देखे जाते हैं। एक ओर उन्हें सामाजिक और सांसारिक व्यवहार के नियमों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और दूसरी ओर समाज की अलिखित मर्यादा उन्हें अपने बड़े-बूढ़ों के सलाह-मशविरे से रोक देती है। ऐसी अवस्था में, कठिनाई, उलझन या संकट के समय, न स्वयं उन्हें प्रकाश-पथ दिखाई देता है

और न दूसरों की काफ़ी सहायता उन्हें मिल पाती है। धूर्त और स्वार्थी लोग ऐसी परिस्थितियों से न केवल खुद बेजा लाभ उठाते हैं बल्कि दम्पती को भी बड़े संकट में डाल देते हैं। धनी और रईस लोगों के यहाँ ऐसी दुर्घटनायें अधिक होती हैं। क्योंकि उनका धन और ऐश्वर्य खुशामदियों, धूर्तों, स्वार्थियों के काम की चीज़ होता है। अतएव अपने नव-विवाहित भाई-बहनों के लाभ के लिए कुछ ऐसे व्यावहारिक नियम यहाँ दिये जाते है, जिनके ज्ञान और पालन से वे बहुतेरे संकटों से बच सकेंगे—

(१) सबसे पहली और ज़रूरी बात यह है कि उन्हें आपस में खूब प्रेम बढ़ाना चाहिए। एक को दूसरे के गुण की क़द्र करनी चाहिए और दोषों को उदार दृष्टि से देखकर उन्हें दूर करने में परस्पर सहायता देनी चाहिए। पति बड़ा और पत्नी छोटी, यह भाव दिल से निकाल डालना चाहिए। प्रेम बढ़ाने का यह मतलब नहीं कि दिन-रात भोग-विलास की बातें सोचते और करते रहें, बल्कि यह कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे से अभिन्न हो जाय। एक का दुःख दूसरे को अपना दुःख मालूम होने लगे; एक की त्रुटि दूसरे को अपनी त्रुटि मालूम होने लगे। एक-दूसरे को अपना सखा, हितैषी और सेवक समझे। एक-दूसरे की रुचि का ख़याल रक्खे। स्वभाव की त्रुटि या व्यवहार की भूलों को हृदय का दोष न समझ ले।

(२) दूसरी बात यह कि परस्पर इतना विश्वास पैदा कर लें और रक्खें कि तीसरा कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे के बारे में उन्हें कुछ भी कह दे तो एकाएक उनके दिल पर उसका असर न हो। यदि असर हो भी जाय तो उसके अनुसार व्यवहार तो एकाएक हर्गिज न। कर बैठना चाहिए। चरित्र-सम्बंधी बुराई एक ऐसी बात होती है, जिसे स्वार्थी या नादान हितैषी इस तरह कह देते हैं कि सहसा विश्वास हो जाता है या होने लगता है। ऐसे समय खास तौर पर सावधान रहने की जरूरत है। ऐसे मामलों में अत्युक्ति और अनुदारता की बहुत प्रबलता देखी जाती है। ऐसी बातें सुनकर, एकाएक आवेश में आकर, पति का पत्नी से या पत्नी का पति से बिगाड़ कर लेना भारी भूल है। ऐसे मामलों में एक बार तो मनुष्य अपनी आँखों पर भी विश्वास न करे तो अच्छा। दोनों को एक-दूसरे के हृदय पर इतना विश्वास हो जाना चाहिए कि कोई बुराई प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी उसपर सहसा विश्वास न बैठे। यह मालूम हो कि नहीं, मेरी आँखों को कुछ भ्रम हो रहा है। ऐसा विश्वास जमता है एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे पर खुला कर देने से। पति-पत्नी दोनों का निजी जीवन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिए। यदि दो में से किसी के मन में कोई कुविचार या कुविकार भी पैदा हो तो उस तक का जिक्र परस्पर में करने योग्य

हृदयैक्य दोनों का होना चाहिए। दो में से जो ज्यादा समझदार और योग्य है उसे चाहिए कि ऐसे कुविचारों और कुविकारो की हानियाँ दूसरे को समझावे और उनके दूर करने में सहायता दे। दोनो को एक-दूसरे के दिल का इतना इत्मीनान होना चाहिए कि वह निर्भय होकर अपनी बुरायाँ उससे कह दे और विश्वास-घात का भय न रहे। विश्वास में कही गई बातो की रक्षा अपने प्राण की रक्षा के समान करनी चाहिए।

(३) तीसरी और सबसे नाजुक बात है दो में से किसी से कोई नैतिक भूल होजाने के समय की व्यवहार-नीति। दुर्भाग्य से हमारे समाज में पुरुष की नैतिक भूल इतनी बुरी निगाह से नही देखी जाती, जितनी कि स्त्री की देखी जाती है। ऐसी बुराइयो की भयंकरता तो दोनों दशाओं में समान है। यदि ऐसी कोई भूल हो जाय तो एकाएक लड़ पड़ने, बहिष्कार कर देने या आवेग मे और कोई अनहोनी बात कर बैठने के पहले यह देखना चाहिए कि यह दोष भूल से हुआ है, जान-बूझ कर किया गया है, या जब्रन हुआ है। यदि भूल से हुआ है तो भूल दिखाना और उसका प्रायश्चित्त कराना पहला उपाय है। यदि जान-बूझ कर किया गया है तो इसका विचार अधिक गम्भीरता से करना चाहिए। इसके मूल कारण को खोजना चाहिए। कैसे लोगो की संगति मे अबतक का जीवन

बीता है, कैसा साहित्य पढ़ने या देखने की रुचि है, कैसा आहार-विहार है, घर का वायु-मण्डल कैसा है, इत्यादि बातों की छान-बीन करके फिर भूल को नष्ट करने का उद्योग करना चाहिए। असफल होने की अवस्था में बहिष्कार या सम्बन्ध-विच्छेद अन्तिम उपाय होना चाहिए। यदि जब्र किया गया हो तो जब्र करनेवाला असली अपराधी है, उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त कराने का उद्योग करना चाहिए, जिससे किसी क़िस्म के बलात्कार का शिकार वह न हो पावे। ऐसे अवसरों पर मनोभावों का उत्कट हो जाना स्वाभाविक है; परन्तु ऐसे ही समय बहुत शान्ति, धीरज, गम्भीरता, कुशलता और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। नवीन दम्पती ऐसे अवसरों पर कर्तव्य-मूढ़ हो सकते हैं। उन्हें घर के समझदार विश्वास-पात्र बड़े-बूढ़ों की अथवा अनुभवी मित्रों की सहायता ऐसे समय ले लेनी चाहिए। बिना सोचे, तोले और आदमी देखे ऐसी बातों की चर्चा हलके दिल से न करनी चाहिए। दूसरे के घर की सुनी ऐसी बातों की चर्चा भी बिला वजह और बिना प्रयोजन के न करनी चाहिए।

(४) चौथी बात यह कि नवीन दम्पतियों को या तो घर के किसी बूढ़े-बूढ़े को या किसी विश्वासपात्र मित्र को या किसी महापुरुष को अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। लज्जा और संकोच छोड़कर अपनी कठिनाइयां

उनके सामने रखनी चाहिए और उनसे सलाह लेनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि झूठी लज्जा के वशवर्ती होकर कितने ही युवक-युवती बुराइयों, बुरी बातों, बुरे व्यवहारों और हरकतों को मन मसोस कर सहते रहते हैं—इससे खुद वे भी बुराई के शिकार होते रहते हैं और घर या समाज में भी गन्दगी फैलती रहती है और उनकी आत्मा को भीतर-ही-भीतर क्लेश होता रहता है। कई बीमारियों में वे फँस जाते हैं और दुःख पाते रहते हैं। यह हालत बहुत ख़तरनाक है। इससे बेहतर यह है कि निःसंकोच होकर गुह्य बातों की भी चर्चा अधिकारी पुरुषों के सामने कर ली जाय।

(५) पाँचवाँ नियम यह होना चाहिए कि विवाह के बाद योग्य अवस्था होते ही पति-पत्नी को साथ रहना चाहिए। दूर देशों में अलग-अलग रहना, सो भी बहुत दिनों तक, भयप्रद है। साथ रहते हुए जहाँ तक हो संयम का पालन करना चाहिए। पर संयम के लोभ से अथवा ख़र्च-वर्च और असुविधा के ख़याल से दूर रहना अनुचित और कु-फलदायी है।

(६) गुप्त रोग हो जाने की अवस्था में अपने जीवन के दूसरे साथी को उससे बचाने की चिन्ता रखनी चाहिए। उसके इलाज का पूरा प्रबन्ध करके आइन्दा उसे न होने देने के कारणों को जड़ से उखाड़ डालना चाहिए। अनु-

चित आहार-विहार, अ-संयम, गंदे स्थानों पर पाखाना-पेशाव, वेश्या-सेवन आदि से गुप्त रोग हो जाया करते हैं। सादा और अल्प आहार, संयम, स्वच्छता के ज्ञान और पालन से मनुष्य ऐसे रोगों से दूर रह सकता है। विज्ञापनी दवाइयों से हमेशा बचना चाहिए।

(७) सातवीं बात यह है कि अश्लील और कामुकता तथा विलासिता के भावों को बढ़ानेवाले नाटक, उपन्यास, आदि पढ़ने, ऐसे थियेटर सिनेमा, चित्र देखने से अपने को बचाना चाहिए। ऐसे मित्रों की संगति और ऐसे विषयों की चर्चा से उदासीन रहना चाहिए।

(८) आठवीं बात यह कि पत्नी की रुचि अपने अंगीकृत कामों में धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए और उसे उनके ज्ञान और अनुभव का अवसर देना चाहिए। दोनों को एक-दूसरे के जीवन को बनाने और अंगीकृत कार्यों को पूर्ण करने में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

मुझे आशा है कि ये कुछ बातें नव-दम्पतियों के लिए कुछ हद तक मार्गदर्शक का काम देंगी।

[४

पत्नीव्रत-धर्म

आशा है, इस लेख के नाम से हमारी बहनें खुश होंगी। खास कर वे बहनें, जिनकी यह शिकायत है कि प्राचीन काल के पुरुषों ने स्त्रियों को हर तरह दबा रक्खा। और वे पुरुष, सम्भव है, लेखक को कोसें, जिन्हें स्त्रियो को अपनो दासी समझने की आदत पड़ी हुई है। यह बात, कि किसने इसको दबा रक्खा है, एक ओर रख दें, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध और स्पष्ट है कि आज स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर और उनके मौजूदा पारस्परिक व्यवहार पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है। स्त्री और पुरुष दो परस्पर-पूरक शक्तियाँ है और उनका पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित बल और गुण व्यक्ति और समाज के हित और सुख में लगना अपेक्षित है। यदि दोनों के गुणों और शक्तियों का समान विकास न होगा,

तो उनका पूरा और उचित उपयोग न हो सकेगा। पक्षी का एक पंख यदि कच्चा या कमज़ोर हो, तो वह अच्छी तरह उड़ नहीं सकता। गाड़ी का एक पहिया यदि छोटा या टूटा हो, तो वह चल नहीं सकती। हिन्दू-समाज में आज पुरुष कई बातों में स्त्रियों से ऊँचा उठा हुआ, आगे बढ़ा हुआ, स्वतंत्र और बलशाली है। धर्म-मन्दिरों में उसीका जय-जय-कार है, साहित्य-कला में उसका आदर-सत्कार है, शिक्षा-दीक्षा में भी वही अगुआ है। स्त्रियों को न पढ़ने की स्वतंत्रता और सुविधा, न घर से बाहर निकलने की। परदा और घूँघट तो नाग-पाश की तरह उन्हें जकड़े हुए है। चूल्हा-चौका, धोना-रोना, बाल-बच्चे यह हिन्दू स्त्री का सारा जीवन है। इस विषमता को दूर किये बिना हिन्दू-समाज का कल्याण नहीं। देश और काल के ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों के विकास में अपना क़दम तेज़ी से आगे बढ़ायें। जहाँ तक लब्ध-प्रतिष्ठ, बलवान और प्रभावशाली व्यक्ति के दुर्गुणों से सम्बन्ध है, हिन्दू पुरुष हिन्दू-स्त्री से बढ़-चढ़कर है। और जहाँतक अन्तर्जगत् के गुण और सौंदर्य से सम्बन्ध है, वहाँ तक, स्त्रियाँ पुरुषों से बहुत आगे हैं। पुरुषों का लौकिक जीवन अधिक आकर्षक है, उपयोगी है; व्यक्तिगत जीवन अधिक दोष-युक्त, नीरस और कलुषित है। अपने सामाजिक प्रभुत्व से वह समाज को चाहे लाभ पहुँचा सकता हो, पर व्यक्तिगत विकास में

वह पीछे पड़ गया है। विपक्ष मे स्त्रियों के उच्च गुणों का उपयोग देश और समाज को कम होता है; परन्तु व्यक्तिगत जीवन में वे उनको बहुत ऊँचा उठा देते हैं। अपनी बुद्धि-चातुरी से पुरुष सामाजिक जगत् में कितना ही ऊँचा उठ जाता हो, व्यक्तिगत जीवन उसका भोग-विलास, रोग-शोक, भय-चिन्ता में समाप्त हो जाता है। स्त्रियों की गति समाज और देश के व्यवहार-जगत् मे न होने के कारण, उनमें सामाजिकता का अभाव पाया जाता है। अतएव अब पुरुषों के जीवन को अधिक व्यक्तिगत और पवित्र बनाने की आवश्यकता है, और स्त्रियो के जीवन को सामाजिक कामो में अधिक लगाने की। पुरुषो और स्त्रियों के जीवन मे इस प्रकार सामञ्जस्य जबतक न होगा, तब तक न उन्हे सुख मिल सकता है, न समाज को।

यह तो हुआ स्त्री-पुरुषो के जीवन का सामान्य प्रश्न। अब रहा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न। मेरी यह धारणा है कि स्त्री, पुरुष की अपेक्षा, अधिक वफादार है। पुरुष एक तो सामाजिक प्रभुता के कारण और दूसरे अनेक भले-बुरे लोगो और वस्तुओं के सम्पर्क के कारण अधिक बे-वफा हो गया है। स्त्रियाँ व्यक्तिगत और गृह-जीवन के कारण स्वभावतः स्वरक्षणशील अतएव वफादार रह पाई हैं। पर अब हमारी सामाजिक अवस्था मे ऐसा उथल-पुथल हो रहा है कि पुरुषों का जीवन अधिक उच्च, सात्विक और

श्रेष्ठ एवं वफ़ादार बने बिना समाज का पाँव आगे न बढ़ सकेगा। अबतक पुरुषों ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों पर बहुत ज़ोर दिया है। उनकी वफादारी, पातिव्रत हमारे यहाँ पवित्रता की पराकाष्ठा मानी गई है। अब ऐसा समय आगया है कि पुरुष अपने कर्त्तव्यों की ओर ज्यादा ध्यान दें। व्यभिचारी, दुराचारी, आक्रामक, अत्याचारी पुरुष के मुँह में अब पतिव्रत-धर्म की बात शोभा नहीं देती। हमारी माताओं और बहनों ने इस अग्नि-परीक्षा में तप कर अपने को शुद्ध सुवर्ण सिद्ध कर दिया है। अब पुरुष की बारी है। अब उसकी परीक्षा का युग आ रहा है। अब उसे अपने लिए पत्नीव्रत-धर्म की रचना करना चाहिए। अब स्मृतियों में, कथा-वार्ताओं में, पत्नीव्रत-धर्म की विधि और उपदेश होना चाहिए। पत्नीव्रत-धर्म के मानी हैं पत्नी के प्रति वफ़ादारी। स्त्री अबतक जैसे पति को परमेश्वर मान कर एकनिष्ठा से उसे अपना आराध्यदेव मानती आई है, उसी पकार पत्नी को गृहदेवी मानकर हमें उसका आदर करना चाहिए, उसके विकास में हर प्रकार सहायता करनी चाहिए, और सप्तपदी के समय जो प्रतिज्ञायें पुरुष ने उसके साथ की हैं, उनका पालन एकनिष्ठा-पूर्वक होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री-जीवन को समाजशील बनाये बिना, और पुरुष-जीवन को पत्नीव्रत-धर्म की दीक्षा दिये बिना हिन्दू-समाज का उद्धार कठिन है। हर्ष की बात है कि

एक ओर पुरुष अपनी इस त्रुटि को समझने लग गया है और दूसरी ओर स्त्रियों ने भी अपनी आवाज़ उठाई है। इसका फल दोनों के लिए अच्छा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

संयम

[१]

कविता क्या है ?

काव्य, कवित्व, और कविता तीनों रूप एक ही कवि शब्द के हैं। और तीनों का मूल अर्थ भी एक ही है। विशेषण 'कवि' को भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगाने से पूर्वोक्त तीनों भाववाचक संज्ञायें सिद्ध होती हैं। पर प्रयोग-भेद से अब इनकी व्याख्या जुदी-जुदी हो गई है। 'काव्य' शब्द से उन कविता-ग्रन्थों का अर्थ-बोध होता है, जिनकी रचना साहित्य-शाला अथवा काव्य-शासन के अनुसार की गई हो।—'कवित्व' 'कवि' का भाववाचक है और कविता उस पद्य अथवा पद्य-समूह को कहते हैं, जिनमें कवित्व हो—काव्य-शास्त्र की भाषा में कहें तो जिनमें रस, चमत्कार और ध्वनि हो। इस लेख में मैं काव्य-शास्त्र की पारिभाषिक भाषा को छोड़कर सीधी-सादी भाषा में यही बताना चाहता हूँ कि 'कविता' क्या चीज़ है ?

अक्सर लोग कोरी तुकबन्दी या महज़ पद्यों को ही कविता समझते हैं। पर कविता इतनी आसान चीज़ नहीं। केवल छन्दःशास्त्र के पढ़ लेने से कोई कविता नहीं कर सकता। छन्दःशास्त्र तो सिर्फ़ यह बताता है कि पद्य में शब्द-रचना किस क्रम से की जाय। न कोई काव्य-शास्त्र को ही पढ़कर काव्य-रचना कर सकता है। हाँ, काव्य-शास्त्र कविता को परख करने के लायक़ अलबत्ता मनुष्य को बना देता है। कविता मुख्यतः हृदय का विषय है। इसलिए सहृदय जन ही कविता लिख सकते है और उसे परख भी सकते है। कहावत है कि कवि तो स्वतःसिद्ध होता है; वह बनाये नहीं बनता। इसका अर्थ यही है कि जिसे ईश्वर ने हृदय दिया हो, प्रतिभा दी हो, वही कविता कर सकता है, कोरी पुस्तके पढ़कर कोई कवि नहीं हो सकता। यदि प्रतिभा सुप्त-रूप में हो तो काव्य-ग्रन्थों के अनुशीलन से वह जाग्रत अवश्य हो सकती है।

किसी वस्तु, घटना, या दृश्य को देखने अथवा कल्पना करने से मनुष्य के हृदय मे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भाव उठते है। किसी देवालय को देखकर उसके मन में श्रद्धा-भक्ति के भाव उदय होते है। स्मशान में चिताओं को जलते हु. देखकर करुणा या वैराग्य के भाव हृदय मे उठते हैं। अत्याचारियों और दुराचारियों को देखकर क्रोध उत्पन्न होता है और भांडों की लीला देखकर हँसी

आती है। यदि इन वस्तुओं या बातों को देखकर इस प्रकार के भाव ही किसी के दिल में न पैदा होते हों तो उसे सहृदय नहीं कह सकते। सहृदय वही है, जिसके मन में भावों का उत्थान और पतन होता हो। पर अकेले सहृदय होने से ही मनुष्य कवि नहीं हो सकता—कविता नहीं कर सकता। सहृदयता तो इस बात की सूचक है कि हाँ, इसमें कविता करने की शक्ति है। पर वह कवि उसी अवस्था में कहा जायगा, जब अपने हृदयस्थ भावों को प्रकट कर सके। जबतक भावों को प्रकट करने की क्षमता नहीं है तबतक वह कवि-हृदय भले ही कहा जाय, कवि नहीं हो सकता। फिर बेढंगे तरीक़े या बेसिलसिले भावों को व्यक्त करने से वह कविता नहीं कही जा सकती। कविता तो वह तभी कही जायगी, जब भाव ऐसे ढंग से प्रकट किये जाँय कि देखने या सुनने वाले के हृदय में उन वस्तुओं या बातों के देखे बिना ही, केवल श्रवण या पठन-मात्र से, वे भाव तद्वत् खड़े हो जायँ, उनका प्रतिबिंब उसके हृदय में अंकित हो जाय। इस भाव प्रकट करने के ढंग या कौशल को साहित्य-शास्त्र में काव्य-कला कहते हैं। इसीमें चमत्कार और ध्वनि तथा शब्दों के भावों का भी समावेश हो जाता है। जब कवितागत भावों का प्रतिबिंब हृदय में अंकित हो जाता है तब उससे जो अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है वही काव्य-शास्त्र में 'रस' कहलाता है।

इस विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कविता वह वाक्य है जिसमें भाव हों—ऐसे ओत-प्रोत भाव हों कि पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में उनका प्रतिबिंब अंकित हो जाय। या यों कहें कि शब्द के रूप में बहने वाले हृदय के भाव-प्रवाह का नाम ही कविता है।

---

[२]

कवि और कविता

कविता मानव-सृष्टि में उतनी ही प्राचीन वस्तु है, जितना कि मानव-हृदय और उसमें उठने वाले विविधि भाव प्राचीन हैं। छन्दों की बेड़ियों में कसी हुई क़ैदी कविता स्वतंत्र आदिम मनुष्य की कविता न थी। मानव-हृदय आन्दोलित होकर जिस धुन में, जिस लय में, जो गाता था उसीको पीछे के लोगों ने छन्द बना दिया। आज छन्द ही कविता का बाबा बन बैठा। व्याकरण जैसे भाषा का चौकीदार है, उसका मालिक नहीं, वैसे ही छन्द भी कविता का कलेवर-मात्र है, उसकी आत्मा—प्राण नहीं। प्रकृति के काश्मीर की सुन्दरता और मनुष्य के दौलतबाग़ की शोभा अलग-अलग है। प्रकृति अपने सहज-सुन्दर रूप में अपना वैभव छिटकाती है; और मनुष्य उसे काट-छाँट कर अपने मतलब को बनाने की चेष्टा करता है। प्रकृति का भण्डार अक्षय है, मनुष्य की शक्ति परिमित और रुचि

सीमित है। मनुष्य प्रकृति का पुतला है। हाँ, प्रकृति को अपनी दासी बना लेनेवाले मनुष्य भी हैं; पर वे प्रकृति की सृष्टि से काट-छाँट नहीं करते, सारी प्रकृति पर ही अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं—उसीपर अपनी अन्तरात्मा का रंग चढ़ाते हैं। वे छन्दो, रागो और रेखाओ के जीवन से टक्कर नहीं लेते; बल्कि काव्य, संगीत और कला के मूल और आत्मा पर ही संस्कार करते हैं और उसे नया जीवन, नया वेग और नया दर्शन देते हैं। वे महाकवि हैं। उनके महाकाव्य के सामने, १८ सर्गों की कोठरियों में भटकने वाले, प्रभात और संध्या के वर्णन की चिन्ता में सूखने वाले, पर्वत और नदी के किनारे मारे-मारे फिरने वाले, संयोग और वियोग में डूबने-उतराने वाले टकसाली महाकवि मिट्टी के खिलौने है। महाकवि एक विधाता ही है, उसे प्रति-ईश्वर ही समझिए। वह नई सृष्टि की रचना करता है, नवीन जीवन और नवीन आकांक्षाओं को जन्म देता है। वह त्रिकालदर्शी है, वह द्रष्टा है। यह भूतकाल की अस्थियों पर पाँव रोपकर वर्तमान की जटिलताओ को भविष्य का संदेश देता और पथ-दर्शन कराता है। उसका सिर आकाश में, पैर जनता में और बाहु चारो दिशाओ में रहते है। आकाश में बैठकर वह सृष्टि के गूढ़ों को, मानव-समाज की पहेलियो को, अपने अन्तश्चक्षुओ से देखता है, समाज में मिलकर उसे उठाता और जगाता है, तथा दिन-रात कोने-

काने में अपना गाना गाता है, अपना रोना रोता है। न वह गाने से थकता है, न रोने से। रोकर वह मानव-हृदय को जगाता है; गाकर उसे जुझाता है। उसका रोना और गाना परस्पर-पूरक है। वह रोते हुए हँसता है, और गाते हुए रोता है। वह पागल है, विश्व की वेदना उसके हृदय को हिलाती है। वह 'उफ़्' कहकर चीख़ पड़ता है। यही काव्य है। उसकी चीख़ से ब्रह्माण्ड हिलने लगता है—यह काव्य की महिमा है। कवि की करुणा कविता है। भारत के आदि-कवि वाल्मीकि ने मग में एक मारे जाते हुए क्रौञ्च पक्षी को देखा। करुणा उनके हृदय से फूट निकली। वह कविता थी।

ऐसे महाकवि संसार में इने-गिने होते हैं। वे संसार को अपना संदेश देने के लिए आते हैं। वे तभी आते हैं, जब संसार को उनकी आवश्यकता होती है। जब किसी समाज के विकास में कोई ज़बरदस्त बाधक शक्ति खड़ी हो जाती है तब उसे हटाने के लिए महाकवि का जन्म होता है। करुणा उसकी कविता और क्रांति उसकी कृति होती है। कवि बड़े मँहगे, अनमोल, दुष्प्राप्य होते हैं। संसार में सस्ते कवि भी बहुत हैं। छंद और काव्य-शास्त्र पढ़ लिया, दिमाग़ की टकसाल में पद्य ढलने लगे। कविता का मायका दिमाग़ नहीं दिल है। जब दिमाग़ देखता है और दिल लिखता है, तब सच्ची और असली कविता होती

है। यदि कविता पढ़कर पाठक अपनेको भूल गया, कविता रोती है और पाठक भी रोता है, कविता हँसती है और पाठक भी हँसता है, कविता दौड़ती है हम भी दौड़ते है, तो समझना चाहिए यह कविता है। कविता कवि-हृदय की प्रतिध्वनि है, प्रबल प्रवाह है, जो सामने वाले को मस्त करके अपने साथ बहा ले जाता है। कविता में यह शक्ति तभी उत्पन्न होती है, जब कवि की आँखें दूर तक देखती हों और कवि का दिल अपने अन्तस्तल से लिखता हो। अतएव कवि बनना हो तो दिमाग़ को दौड़ाओ और दिल को हिलाओ। छंदशास्त्र और काव्यशास्त्र दिमाग़ की उपज हैं। इनको जो कविता का आधार मान लेता है वह रट में पड़ जाता है। कविता के लिए प्रतिभा और मौलिकता की आवश्यकता है। अन्दर जबतक है तबतक उसका नाम प्रतिभा है, और बाहर निकलने पर वही कविता हो जाती है।

कवि की प्रतिभा अनेक दृश्य देखती है, अनेक भाव उसमें उदय होते है और वही वाणी अथवा लेखनी के द्वारा कविता का रूप धारण करते है। इस कविता मे पाठकों के दिल और दिमाग़ पर क़ब्ज़ा कर लेने का जो सामर्थ्य होता है उसीका नाम है रस। कविता का जैसा भाव और प्रभाव होगा, वैसा ही उस रस का परिपाक कविता में समझा जायगा। भारतीय काव्य-मर्मज्ञों ने कविता के नौ रस माने हैं—शृंगार, वीर, करुणा, रौद्र, हास्य, वीभत्स, भयानक,

अद्भुत और शान्त। कुछ लोग शृङ्गार-रस को सबसे प्रधान मानते हैं और कुछ करुणा-रस को। पति-पत्नी के संयोग-वियोग के वर्णन से जिस रस की उत्पत्ति होती है वह शृंगार-रस और दीन-दुखी, पीड़ित-पतित की दयाजनक अवस्था का, उनके शोकों और दुःखों का वर्णन करने से जो रस उत्पन्न होता है वह करुण-रस कहलाता। शृंगार-रस का मूल तो प्रेम है, जोकि दो हृदयों को अभिन्न बनाता है, परन्तु हमारे कितने ही संस्कृत, हिन्दी और उर्दू कवियों ने उसे विषय का रूप दे डाला है। मानव-हृदय का वह निर्मल और उच्च भाव, इन कवियों के पल्ले पड़ कर, नायक-नायिका के शारीरिक भोगों की सामग्री बन गया! जबतक कि मन सुसंस्कारवान् न हो, प्रेम के लिए भोग का रूप धारण कर लेना आश्चर्य की बात नहीं है। प्रेम में मनोगत सात्विक शुद्ध आनन्द है। प्रेमी की सेवा करने, उसके सुख और उन्नति में सहायक होने की अभिलाषा है। भोग में अपनी इंद्रियों को तृप्त करने की चाह है। प्रेम में दैवी भाव है, भोग में पाशविक। प्रेम अपने को दूसरे के अर्पण कर देता है, भोग दूसरे को अधीन रखना चाहता है। दो पुरुष के प्रेम और एक स्त्री-पुरुष के प्रेम में अन्तर है। स्त्रियों के साथ पुरुष का जो प्रेम होता है उसमें स्त्रियों की शारीरिक विशेषता या भिन्नता का आकर्षण मुख्य होता है। और इसलिए उनका प्रेम जल्दी

भोग में परिणत हो जाता है। वास्तव में देखा जाय तो प्रेम के लिए विपरीत-लिङ्गी अधिष्ठान की आवश्यकता न होनी चाहिए। प्रेम का अधिष्ठान व्यक्ति ही हो, यह भी आवश्यक नहीं। कोई सिद्धान्त, कोई आदर्श, कोई वस्तु, कोई देश, कोई देव, क्यों न हमारा प्रेमाधार हो ? हम अपनी प्रियतमा का ही रोना क्यों रोते फिरें—उसीके पीछे क्यों अपने को बरबाद और बदनाम करते फिरें ? क्यों न हम सत्य, स्वाधीनता, परमेश्वर या अपने देश के लिए रोयें, मरें और बरबाद हों ? परन्तु हमारे परम्परागत शृङ्गार-रस में इसके लिए कितना स्थान है ? वहाँ व्यभिचार तक तो जायज़ समझा जाता है—वहाँ तो मनोविकार ही प्रेम है, उसकी तृप्ति ही अलौकिक आनन्द है, और अलौकिक आनन्द का नाम है रस। जिसे नायिका-भेद का ज़रा भी ज्ञान है, वह इस शृङ्गार-रस की भयंकरता को जल्दी समझ सकता है। अतएव मेरी राय में शृङ्गार-रस की जगह हमें प्रेम-रस का निर्माण करना चाहिए। उसे भोग-विलास की गंदी गटर से निकालकर मनोगत सात्विक आनन्द की गंगोत्री पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। जो कवि जितना ही इस निर्मल प्रेम से प्रेरित होकर गायगा, उतनी ही वह संसार को सुन्दर स्फूर्ति देगा और उतनी ही वह उसकी सेवा करेगा। निर्मल प्रेम की पुकार मानो दूध की गंगा है, मानों अमृत की धारा है; और सविकार प्रेम का

उन्माद मानों मद्य का सरोवर है, हलाहल का कुण्ड है।

करुणा-रस की उत्पत्ति हृदय के उस कोमलतर अंश में होती है जो दूसरे के दुःख, शोक, कष्ट, क्लेश, सन्ताप, अनुताप और निराशा को देख कर हिल उठता है। प्रेम-रस मूलतः अपनी किसी कमी के लिए दूसरे के अधिष्ठान को खोजता है और करुणा-रस मुख्यतः दूसरे के अभाव की पूर्ति के लिए छटपटाता है। अतएव मेरी दृष्टि में प्रेम-रस से करुणा-रस का स्थान बहुत ऊँचा है। आजकल के शृंगार-रस की तो मैं बात ही नहीं करता। अतएव मेरी राय में मनुष्य को सम्पूर्णता की ओर जाने के लिए, करुणा-रस और प्रेम-रस ही बस हैं। शान्त-रस प्रेम-रस के अन्तर्गत हो जाता है और वीर-रस प्रेम तथा करुणा-रसों के परिपाक का फल है। अतएव शेष हास्य, बीभत्स, अद्भुत, भयानक और रौद्र साहित्य की शोभा भले ही बढ़ाते हों, मनुष्य की मानवता के विकाश के लिए उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है। प्रेमगत वस्तु की प्राप्ति, उसकी सेवा और सहायता के लिए, तथा इसी प्रकार दीन-दुःखी, पीड़ित-पतित की सेवा और सहायता के लिए, दूसरे शब्दों में कहें तो समाज और देश-हित के लिए मनुष्य को जो-जो वृहत् उद्योग करने पड़ते हैं, बड़े-बड़े पराक्रम करने पड़ते हैं, संग्राम रचने पड़ते हैं, उन्हींमें से वीर-रस की उत्पत्ति होती है। अतएव मैं यह मानता हूँ कि हृदय का संवेदनाशील

होना मानवता का पहला लक्षण है। जिसे हृदय है वह कवि है।

जो हृदय अपनी भूख बुझाने के लिए किसी अधिष्ठान को चाहता है, वह प्रेमी है; जो दूसरों के दुःखों से दुःखी होता है, वह करुणावान् है; और जो दूसरो की सेवा और सहायता के लिए तन-मन-धन से उद्योग करता है, अनेक संकटो का मुक़ाबला करता है, वह वीर है। कवि-सम्मेलन के इस अवसर पर कविता का यही सन्देश मै आप सज्जनों के समक्ष रखता हूँ—प्रेमी बनो, दयावान् बनो, वीर बनो। यदि कवितादेवी की उपासना करनी है तो विश्व-प्रेम से विह्वल, मानवता के दुःखो से विकल बनो और उसके लिए सर्वस्व अर्पण करने की धुन मे लगो। धुन, लगन और पागलपन जबतक नही है, तबतक सच्ची कविता नहीं हो सकती। कवि बनना हो तो पहले पागल बनो। अपनेको भूल जाओ। अपनेको समष्टि के अधीन करके, उन्नत हो कर, समष्टि के लिए जो लिखोगे, गाओगे-बजाओगे, नाचोगे, वही कविता और कला होगी। हृदय मे छिपे गूढ़ तथ्य और सत्य को प्रकाशित करने के लिए—अपना संदेह संसार को सुनाने के लिए—जब तुम विकल और अधीर हो उठोगे और बरबस पुकारने लगोगे तभी कविता बनने लगेगी। तुम्हारी ।अन्तरात्मा उछलकर जब विश्वात्मा की गोद मे बैठ जायगी, तब जो विश्व-विशाल आनन्द की और

एकता की ऊर्म्मि हृदय में उठने लगेगी वही कविता होगी। अपने हृदय के सुन्दर दिव्य भाव, अपने मस्तिष्क के उच्च और भव्य विचार, अपने शरीर का पराक्रम और आत्मा का बल जिस दिन दूसरों को देने की उत्कण्ठा जाग उठेगी, जिस दिन वह तुम्हारे रोम-रोम से फूटने लगेगी, उसी दिन तुम कविता करने लगोगे—तुम्हारा रोम-रोम कवि-पद प्राप्त करेगा। कवि की महिमा अनिर्वचनीय है। यह सृष्टि महा-कवि का महाकाव्य है। इस एक वाक्य में कवि और काव्य का महत्व आ जाता है। ❀

❀ गवर्नमेंट कालेज, अजमेर, के कवि-सम्मेलन पर अध्यक्ष-स्थान से

[३]

सर्व-श्रेष्ठ रस कौन है ?

साहित्याचार्यों मे परस्पर इस विषय मे मत-भेद है। कोई शृङ्गार-रस को सर्व-श्रेष्ठ मानता है, तो कोई शान्त-रस को, और कोई करुण या वीर-रस को। इस विषय पर पं० कृष्णविहारी मिश्र का एक लेख—शृङ्गार—रस—हाल ही मे मैंने पढ़ा। मिश्रजी साहित्य-शास्त्र के स्वाध्यायी हैं और शृंगार-रस के प्रेमी। इस लेख में आपने शृङ्गार-रस को सर्वोच्च आसन देने का प्रयत्न किया है। मुझे यह लेख एक दृष्टि से ज्यादह महत्त्वपूर्ण मालूम हुआ। इसमें आपने शृंगार-रस पर संस्कार करने की कुछ चेष्टा की है। उसे कामुकता और विषय भोग की गन्दी गटर से उठाकर 'प्रेम' की निर्मल और उच्च भूमि पर बिठाने की ज़रा कोशिश की है। शृङ्गार-संस्कार की दृष्टि से आपका यह प्रयत्न श्लाघनीय—अभिनन्दनीय है। हमारे संस्कृत और हिन्दी के साहित्य-शास्त्रियो की शृङ्गार-

विषयक धारणाओं और मतों पर यदि विचार किया जाय, और साथही शृङ्गार-रस के काव्यों का पठन किया जाय तो हम इसी नतीजे पर नहीं पहुँच सकते कि इनका शृङ्गार-रस केवल निर्दोष सात्विक प्रेम-रस था। उसमें तो आपको कामुकता का ही राज्य मिलेगा; व्यभिचार को भी स्थान मिलेगा। इस दृष्टि से मिश्रजी का शृङ्गार-रस, जिसे प्रेम-रस कहना चाहिए, उनके मुक़ाबले में संकुचित हो जाता है। पर एक दूसरी दृष्टि से वह सर्वव्यापक भी हो जाता है। प्राचीन आचार्यों का शृङ्गार-रस नायक—नायिका तक ही परिमित है, मिश्रजी का प्रेम-रस प्राणि-मात्र को अपनी परिधि में ले सकता है। मेरी राय में इसे शृङ्गार-रस न कह कर प्रेम-रस कहना चाहिए, और यह प्रेम-रस ही सर्व-श्रेष्ठ रस हो सकता है। शृङ्गार-रस के जिन विशेष गुणों के कारण मिश्रजी उसे रस-राज बना रहे हैं, वे प्राचीन कवियों को अभिमत एकांगी और वैषयिक शृङ्गार-रस पर नहीं घटते, बल्कि मिश्रजी के संस्कृत शृङ्गार-रस अथवा प्रेम-रस पर घटित होते हैं। शृङ्गार के शाब्दिक अर्थ से शृङ्गार-रस की परिभाषा का कुछ सम्बन्ध भी नहीं दिखाई देता। अतएव उसका नाम प्रेम-रस ही होना उचित है। इससे शृङ्गार के बुरे अर्थ-सम्बन्ध से भी वह बचा रहेगा और किसी तरह के विपर्यास के लिए स्थान न रहेगा।

परन्तु शृङ्गार को शुद्ध रूप देते हुए भी श्री मिश्रजी उसके अवलम्बन के सम्बन्ध में नायक-नायिका स्त्री-पुरुष से आगे नहीं बढ़े। परम्परा के अनुसार नायक-नायिका की प्रीति में ही उन्होंने अपने प्रेम-रस की परिसमाप्ति कर दी है। इस संकोच का कारण यह धारणा है कि संसार प्रकृति-पुरुष की केलि-लीला की रंग-स्थली है, नर-नारी की प्रीति उसीका प्रतिबिम्ब है। यह मानकर चलने से यहाँ प्रेम का अर्थ सामान्य नहीं रह जाता, विशेष हो जाता है। और मिश्रजी का संशोधित शृङ्गार—प्रेम-रस—विश्व-व्यापी नहीं होता। लिंग-भेद के परे उसकी गति और स्थिति नहीं होती। उसकी अवस्थिति के लिए दो परस्पर-विरुद्ध या भिन्न लिंगों की आवश्यकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि यह प्रेम शरीर-रचना की भिन्नता और तज्जात विकारों के आकर्षण का फल है। दूसरे शब्दों में, वह प्रेम शारीरिक हुआ, वासना-मूलक हुआ, रूप-जात हुआ। शुद्ध-प्रेम गुण-मूलक होता है। लिंग-भेद उसकी आवश्यक शर्त नहीं होती। निर्दोष प्रेम की कसौटी यह है कि शुद्ध प्रेम आनन्द-पर्यव-सायी होता है, और अशुद्ध प्रेम भोग-पर्यवसायी। जबतक हम किसी पुरुष के, किसी युवती के, या अन्य किसी के सौन्दर्य को देखकर केवल सात्विक आनन्द और उल्लास का अनुभव करते है तबतक हमारा वह अनुराग शुद्ध है पर ज्यो ही हमारा मन फूल को तोड़कर सूँघने के लिए

ललचाया, युवती को अपनी भोग्य वस्तु बनाने का भाव हमारे हृदय में उत्पन्न हुआ कि हमारा प्रेम मलिन और दूषित हो गया। जब प्रेम के लिए विरुद्ध लिंग की स्थिति अनिवार्य कर दी जाती है तब वह प्रेम अधिकांश में निर्मल नहीं होता। स्त्री और पुरुष का जो परस्पर आकर्षण होता है वह अधिकांश में शरीर-सुख-फलक होता है। यदि यह आकर्षण एक पुरुष का एक स्त्री तक या एक पुरुष तक मर्यादित हो, तो इसे हमारे समाज ने दोष नहीं माना है, बल्कि विवाह का रूप देकर उसे शिष्ट स्थान दे दिया है। परन्तु प्रेम-रस के विषय को केवल स्त्री-पुरुषों की विवाहित जोड़ी तक सीमित कर देने से एक तो उसकी स्वाभाविक ंदरता और सात्विक आनन्द का स्वाद चला जाता है, दूसरे उसका महत्व और इसीलिए जीवन में उसका स्थान बहुत कम रह जाता है। अतएव वही प्रेम-रस सब रसों का राजा हो सकता है, जो सार्वभौम हो, सात्विक आनन्द-रूप हो, जो लिंग-भेद से परे हो, जो प्रकृति के एक-एक परमाणु में व्याप्त हो। उसी प्रेम में अद्वैत का आनन्द मिलता है। स्त्री-पुरुष के भेद-भाव का लोप हो जाना ही अद्वैतानन्द की चरम सीमा नहीं है। प्राणीमात्र के प्रति अभेद-भाव होने पर अद्वैत सुख का अनुभव हो सकता है। ज़िन्दगी भर स्त्री-पुरुष के द्वैत-जात विषय-भोग में डूबे रहनेवालों की अपेक्षा तो स्त्री-पुरुष के द्वैत-भाव से परे

हो जाने वाले कहीं ऊँचे हैं। पर इससे भी उच्च अवस्था एक और है, और वह है—'एक मेवाद्वितीयम्'—सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। यही शुद्ध प्रेम-रस की चरम सीमा है। ऐसा ही प्रेम-रस सब रसो का सिरताज हो सकता है।

मिश्रजी ने प्रत्येक रस के व्यभिचारी भावों की गिनती करके दिखाया है कि शृंगार-रस में २९, अर्थात् अन्य सब रसों से ज्यादह व्यभिचारी भाव पाये जाते है, इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ है। यह तो माना, पर इन सब भावो के उत्थान और पतन के लिए यह आवश्यकता नहीं मालूम होती कि स्त्री के प्रेम का अवलंबन पुरुष ही हो, और पुरुष के प्रेम का अवलंबन स्त्री ही हो। हाँ, यह बात सच है कि मनुष्य को अपने प्रेम के लिए किसी-न-किसी विषय की—आधार की—जरूरत होती है। कोई पुरुष, ग्राम, देश, धर्म, समाज या देव भी उसका आधार हो सकता है। यदि हम इस बात को मान लें, तो साहित्य में केवल नर-नारी के प्रेम की जगह देश-प्रेम, धर्म-प्रेम, समाज-प्रेम आदि की धूम मचने लगे। उससे साहित्य भी अधिक उच्च और निर्दोष निर्मित होगा, और देश, समाज तथा धर्म की भी बहुत सेवा होगी।

साहित्य मे भक्ति-रस शान्त-रस के अन्तर्गत् माना गया है। कुछ लोग उसे पृथक् ही मानते हैं। कुछ लोगो ने देश-भक्ति रस को भी एक स्वतन्त्र-रस माना है। मेरी राय में भक्ति

प्रेम की पराकाष्ठा को ही कहते हैं। प्रेम की परिणति भक्ति में और भक्ति की शान्ति में होती है। जबतक परस्पर गुणों का आकर्षण-मात्र रहता है तबतक के भाव को प्रेम कह सकते हैं; जब एक का दूसरे के गुण के प्रति आदर और पूज्य भाव होने लगता है तब प्रेम भक्ति का रूप धारण कर लेता है। प्रेम में दोनों समान भावों की भूमिका रहते हैं; भक्ति में एक दूसरे को अपने से उच्च भूमिका पर मानता है। प्रेम में आनन्द है, भक्ति में उन्नति है, सुख है, शान्ति है। इस दृष्टि से यदि शान्तरस को प्रधानता दी जाय तो हर्ज नहीं, पर यदि विश्वजनीक प्रेम के रस को भी उसके आसन पर बिठावें तो मेरा कोई झगड़ा नहीं। फिर भी मैं इतना तो जरूर कहूँगा कि देश को इस समय सामूहिक रूप से पति-पत्नी-जात शृङ्गार रस की फिर वह निर्मल ही क्यों न हो—बिल्कुल जरूरत नहीं है। नव-साहित्य के विधाता यदि देश, धर्म, समाज को अपने या अपने पात्रों के प्रेम का आलम्बन बना कर साहित्य-रचना या काव्य-सृष्टि करें तो देश पर उनका बड़ा उपकार होगा।

यदि संकुचित शृङ्गार-रस का स्थान हम व्यापक प्रेम-रस को दें, तो फिर शृङ्गार-रस के दोनों भेदों, संयोग और विप्रलंभ, को भी उतना ही व्यापक रूप अपने आप मिल जायगा। उस अवस्था में उनके नाम या तो संयोग और

वियोग या आनन्द और विषाद रखना ठीक होगा तब केवल विरह-विधुर, व्याकुल यक्ष अपनी विरहिणी यक्षिणी को ही नहीं, गोपियाँ मथुरा-गामी कृष्ण को ही नहीं, बल्कि देश-वियोगी देश-देव को, स्वतन्त्रता-विरही स्वतन्त्रता-देवी को अपने हृदयोच्छ्वास और जीवन-संदेश भेज सकेंगे। और उनकी प्राप्ति में प्राणार्पण कर सकेंगे। उनकी धुन से वे जीवन से बढ़कर मृत्यु को और मृत्यु से बढ़कर जीवन को समझेंगे। संयोग और वियोग दोनो अवस्थाओं में वे अपने साथ ही अपने देश और समाज की प्रत्यक्ष सेवा करेंगे।

---

[४]

कला--विचार

इस तरफ़ के कला-मर्मज्ञों से मैं अक्सर यह शिकायत सुनता हूँ कि हिन्दी-संसार में कला की अभिरुचि जाग्रत और परिमार्जित नहीं हुई है। जब कोई हिन्दी की मासिक पत्रिका, जिसे आम तौर पर हिन्दी-भाषी सुन्दर और सजी मानते हैं, उनकी नज़र से गुज़रती है तब वे हिन्दी के इस अंग की त्रुटि पर दुःख प्रकट करते हैं। अभी उस दिन हिन्दी की एक लोकप्रिय पत्रिका का ताज़ा अङ्क मेरे एक सुसंस्कृत और विद्याविनय-सम्पन्न मदरासी मित्र ने देखा। उसका मुख-चित्र देखते ही उनके मुँह से निकला—What an awkward fronts-piece ! This is no art at all. (कैसा भद्दा मुख-चित्र है ! इसमें तो कला है ही नहीं) एक गुजराती कला-मर्मज्ञ ने कहा—Negation of art is no art. (कला की विरूपता और अभाव का नाम कला नहीं है) एक तीसरे कला-प्रेमी ने

एक चित्र के प्रसंग को देख कर कहा—This is absurd. (भद्दा है !) ऐसे-ऐसे उद्‌गार सुनकर मुझे दुःख होता रहता है। पर मुझे उनकी आलोचनाओं का प्रायः क़ायल होना पड़ता है; क्योंकि वस्तु-स्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही दिखाई देती है। हिन्दी में कला-चर्चा कम होती है। यदि किसी पत्र में होती है तो सर्व-साधारण, कला-तत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण, उनका रसास्वादन नहीं कर पाते। अतएव यह आवश्यक है कि हिन्दीपत्रों में कला-तत्त्व के परिचय का तथा कला-चर्चा का अनवरत प्रयत्न हो। इसी बात को ध्यान में रखकर आज मैं कला-विचार को लेकर उपस्थित होता हूँ।

सर्व—साधारण कला शब्द के दो ही अर्थों से परिचित है—१-विद्या जैसे शस्त्र-कला और २—कुशलता, जैसे संभाषण-कला। पर इनसे बढ़कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरे मनुष्य तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय तक ले जाने वाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जाग्रत कर पाता है,

वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इंगित वा अंग-विक्षेप द्वारा, कोई अपनी क़लम या कूँची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जाग्रत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसी का होता है उसका अङ्ग-विक्षेप, किसी की क़लम और किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देनेवाले को हम संगीतपटु, अङ्ग-विक्षेप के द्वारा परिचय देनेवाले को अभिनेता या नट, क़लम के द्वारा देनेवाले को चित्रकार और वाणी के द्वारा देनेवाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरों में होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न विभाग हो गये हैं—सङ्गीत-कला, नाट्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला और स्थापत्य-कला आदि। इस लेख का विषय प्रधानतः चित्र-कला से सम्बन्ध रखता है।

अक्सर लोग कला के इस मर्म को नहीं जानते। इससे वे केवल रङ्ग-बिरङ्गे चमकीले-भड़कीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आँखें गड़ जाती हैं, कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आँखों को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणायें भी

उनके संस्कार के ही अनुरूप रहा करती हैं। चित्रकार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐसे ही चित्रों के कनिष्ठ नमूने पेश करते रहते है जिससे उनके चित्र और पत्र तुरन्त खप जायँ। सर्व-साधारण की वे संस्कार-हीन धारणायें ज्यों-की-त्यों बनी रहे तो बनी रहें इस कारण न सर्व-साधारण की कला-भिरुचि जाग्रत और परिष्कृत होती है, न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आम तौर पर आँखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देखकर हृदय में उच्च, पवित्र, निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा, जन-सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुँह मोड़ने और सद्‌गुणों की वृद्धि करने की उमङ्ग मन में पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सब से अच्छी कसौटी यह है कि उसे देखकर मन में उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन में कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहाँ जा विलास करने की इच्छा पैदा हुई, यदि किसी रमणी के चित्र को देखकर मन में यह भाव उठा कि यह मेरी पत्नी होती तो क्या बहार आती, तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को

चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रधान-रूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र में प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यतः देखने वालों के मन पर अधिकार करता है। संक्षेप में कहें तो जिस चित्र को देख-कर मन में कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम हैं, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्र-कार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय में उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही चित्रकार कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिए आवश्यक भावों की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिए कला-तत्त्वज्ञों ने ऐसे ही चित्रकार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं, और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ानेवाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधःपात का रास्ता दिखानेवाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्बन्ध भाव से है; सुन्दरता से नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि कला का सम्बन्ध रूप-सुन्दरता

से नहीं, भाव-सुन्दरता से है। रूप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को ही कला मानते हैं अर्थात् सृष्टि में जो वस्तु उन्हें जैसी दिखाई देती है उसकी ज्यों की त्यों नकल कर देने, उसका हूबहू चित्र खड़ा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते हैं। इसलिए वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं खींचते, प्राकृत संसार में मिलने वाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बिना तारतम्य के नहीं खींचते, बल्कि नग्न और अर्धनग्न स्त्री-पुरुषों के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। वे ठेठ दम्पत्तियों के अन्त:पुर में भी बेधड़क चले जाते हैं और उसकी दीवारें तोड़कर सारे जन-समाज में उन्हें उपस्थित कर देते हैं। जब पत्र-पत्रिकाओं का जन्म नहीं हुआ था तब ऐसे दृश्य केवल अन्त:पुर की ही सम्पत्ति समझे जाते थे, पर अब तो गुप्त को पाप समझने का ज़माना आगया है! प्रकृत संसार में चाहे हमारे स्त्री-संसार के मुख पर से परदा उठाने की हिम्मत हमे न हो, पर चित्र-संसार में तो हमने अन्त:पुर का भी परदा निकाल डाला है! मन में प्रश्न उठता है कि किसी के अन्त:पुर में जाकर झाँकने का किसी को कुछ अधिकार हो सकता है? यदि नही हो सकता तो फिर अन्त:पुर को बाज़ार में बेचने वाले महाशयों से कभी किसी ने इसका जवाब तलब किया है? किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्यों हज़रत, जब

चाहे जहाँ और चाहे जिस अवस्था में हमें उपस्थित करने की गुस्ताख़ी आप क्यों कर रहे हैं ? कभी उनके आर्य-सतीत्व ने सन्तप्त होकर उन्हें चेतावनी दी है कि बस, यहीं तक; अब आगे नहीं ! मेरी राय में अब वह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अंकुश रखने लगे। दम्पती के अन्तःपुर के ऐकान्तिक जीवन के प्रसंगों के अतिरिक्त चित्रकारों के लिए ऐकान्तिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसंग मिल सकते हैं जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते हैं।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिलिपि करनेवाले चितेरों की बात। इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कला-तत्वविद् यथार्थदर्शी कला कहते हैं। एक दूसरे प्रकार के कला-मर्मज्ञ हैं। वे भाव-सुन्दरता के उपासक हैं। वे कहते हैं, रूप तो क्षणिक और गौण चीज़ है। भाव मुख्य वस्तु है। कुदरती चीजों की नक़ल कर देना कौन बड़ी बात है ? हाथ और आँख को ज़रा अभ्यास हो जाय तो बस है। उसमें बुद्धि, कल्पना, प्रतिभा के बल से काम नहीं लिया जाता। भाव-सुन्दरता के लिए चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है। वह अपने हृदय के भाव-विशेष को मूर्त्ति का, व्यक्ति का रूप देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं साक्षात् करुणा या भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भाव-दर्शन के

अनुरूप आदर्श अवयवो को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज-खोज कर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खड़ी कर देता है। इसलिए ऐसे चित्रकार आदर्शदर्शी कला के अनुगामी माने जाते है। आदर्शदर्शी चित्रकार भावों को व्यक्ति का रूप देता है, यथार्थदर्शी चित्रकार प्राकृत संसार के व्यक्तियों का चित्र खींचकर उसमें भाव आरोपण करने का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्श-दर्शन की ओर रहता है, समाज को ऊपर उठाने की ओर रहता है। यथार्थदर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजें आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव करके अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है, यथार्थदर्शी कलाकार स्वयं विवेक का उपयोग करने के झगड़े में नहीं पड़ता; चुनाव और पसन्दी का काम समाज पर छोड़ देता है, समाज का जी चाहे ऊपर चढ़े, जी चाहे नीचे गिरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग हो गया।

भारतवर्ष स्वभावतः और परम्परया आदर्शवादी है। अभी-अभी अंग्रेजी सभ्यता की धाक का ऐसा जमाना आया कि और बातों की तरह हम अपनी कला का आदर्श भी भूलने लगे थे। अनेक धन्यवाद है, हैवल साहब को, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को, डाक्टर कुमारस्वामी को जिन्होंने,

भारतीय चित्रकला को डूबते हुए बचाया। इस समय भारत में चित्रकला के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—एक वङ्गाल-सम्प्रदाय, दूसरा बम्बई-सम्प्रदाय। वङ्गाल-सम्प्रदाय का झुकाव जितना आदर्शवाद की तरफ़ है, उतना बम्बई सम्प्रदाय का नहीं है। यूरोप में भी आदर्शवादी, और यथार्थवादी दोनों सम्प्रदाय हैं। रसकिन, टॉलस्टाय आदर्शवादी हैं। उनका कहना है कि यूरोप से कला लोप हो रही है। टॉलस्टाय ने What is art (कला क्या है ?) नामक एक अत्यन्त मार्मिक पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने अपने समय तक के तमाम कला और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रधान ज्ञाताओं के मत का निदर्शन करके उनकी समीक्षा की है और कला के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया है। इस लेखारम्भ में कला की व्याख्या में मैंने उन्हीं के मत को गृहीत किया है।

आशा है जिन पाठकों के हाथों में यह लेख पड़ जायगा वे इसपर मनन करेंगे जिससे कि वे अच्छे और बुरे चित्रों की परीक्षा कर सकें और ऐसे-वैसे विलासिता के भावों से भरे चित्रों को ख़रीद कर धन और जीवन को बरबाद करने से बच सकें।

---

[५]

सुरुचि का संहार

विवेक—भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः

जब मौसम बदलता है तब कितने ही लोग अक्सर बीमार हो जाते है। जब क़ैदी एका-एक जेल से छूट जाते हैं तो कितने ही मारे खुशी के सुध-बुध भूल जाते हैं। जब बहुत दिन के सोये हुए मुसाफिर एकाएक जग पड़ते हैं तब बहुतेरे दीवाने-से हो जाते हैं। जब रोगी एकाएक आराम पाने लगता है तब अक्सर बद-परहेज़ी कर बैठता है। बहुत-कुछ यही हालत हमारे देश के कुछ अति-उत्साही युवकों की हो रही है। सदियों से गुलामी की नींद में सोये वे जागृति का अनुभव और स्वतन्त्रता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करके मानो बौखला गये हैं। बहुत दिनों का प्यासा जिस तरह पेट फूटने तक पानी पी लेना चाहता है उसी तरह वे स्वतन्त्रता की कल्पना-मात्र से

इतने बौराये जा रहे हैं कि नीति, सुरुचि और शिष्टता तक की मर्यादा का पालन करना नहीं चाहते। बल्कि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि वे नियम को ही एक बंधन मानते हुए दिखाई देते हैं। शायद वे निरंकुशता को स्वतन्त्रता मान बैठे हैं। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति तीनों क्षेत्रों में इस उच्छृङ्खलता के दर्शन हो रहे हैं। यह विकार का लक्षण है। इससे समाज का लाभ तो शायद ही हो उलटा व्यतिक्रम का अन्देशा रहता है। हिन्दी-साहित्य में तो कुछ लोग सुरुचि का संहार तक कर देने में बुराई नहीं समझते। यही समय है जब चेतावनी देने की, 'ठहरो और सोचो' कहने की ज़रूरत होती है।

'सन्तान-वृद्धि-निग्रह' के मोह में कन्याओं, स्त्रियों और बच्चों के हाथ में पड़ने वाले एक हिन्दी मासिक-पत्र से जो अश्लीलता का प्रचार हो पाया है तथा सुरुचि का जो मान-भंग हुआ है एवं कुछ हिन्दी पत्रों में व्यंग्य, विनोद, परिहास, प्रहसन आदि के रूपों में जिस प्रकार कुत्सा और कुरुचि की कलुषता का विकास-सा होता हुआ देख पड़ता है, उस पर ध्यान जाने से ये विचार मन में उठ रहे हैं। कुछ हिन्दी पत्रों की गति-विधि पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने से मेरा यह मत होता जाता है कि अश्लीलता, अशिष्टता, कुरुचि, कुत्सा की उनकी कसौटी सर्वसाधारण भारतीय समाज की कसौटी से भिन्न है और उन्होंने बुद्धि-पूर्वक ही

अपनी यह रीति-नीति रक्खी है। और इसलिए आज ऐसी चित्तवृत्ति पर लिखने की इच्छा हो रही है।

यूरोप में एक समाज ऐसा है जिसका यह मत है कि ज्ञान के प्रचार से फिर वह अच्छी वात का हो या बुरी या अनुचित या अश्लील मानी जाने वाली वात का हो, कभी हानि नहीं होती। वे उससे उलटा लाभ समझते हैं। वे कहते है हम जन-समाज के सामने सब तरह की ज्ञानसामग्री उपस्थित करते है, वह विवेक-पूर्वक उसमें से अच्छी और हितकर सामग्री चुन ले और उसे अपना ले। इससे उसकी सारासार-विवेक शक्ति जाग्रत होगी। वह स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होगा और इसलिए वे अश्लील और गुह्य बातो का प्रचार करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानते है, अपना अधिकार समझते हैं। इसी समाज के मत का अनुसरण हमारे देश के कुछ उत्साही युवक कर रहे हैं। वे स्वयं विवेक-पूर्वक चुनकर ज्ञान-सामग्री समाज को देना नहीं चाहते वल्कि चुनाव का और विवेक के प्रयोग का भार जन-समाज पर रखना चाहते है। कह नहीं सकते इस चित्त-वृत्ति के मूल में समाज की विवेक-शक्ति को जाग्रत और पुष्ट करने की भावना मुख्यतः काम कर रही है या मनोमोहक, विलास-मधुर सामग्री का उपभोग करने और कराने की युवक-जन-सुलभ कमजोरी। विचार-स्वातन्त्र्य और कार्य-स्वातन्त्र्य ही नहीं बल्कि प्रचार-स्वातन्त्र्य के उदाराशय

के भ्रम में कहीं उनसे स्वेच्छाचार, काम-लिप्सा और विषय-भोग को तो उत्तेजना नहीं मिल रही है? हाँ, अधिकार तो मनुष्य 'नंगा नाचने' का भी रखता है, पर वह किसी भी सभ्य समाज में 'नंगा नाचने' के लिए स्वतन्त्र नहीं है और दूसरे यदि वह नाचने लगे तो समाज को उससे जवाब तलब करने का भी अधिकार प्राप्त है। जन-समाज प्रायः सरल-हृदय होता है। वह भोले-भाले शिशु की तरह है। वह सहवास, संस्कार और शिक्षा-दीक्षा से विवेक प्राप्त करता है। वह शिक्षक या साथी या मार्गदर्शक निस्संदेह हितचिंतक नहीं है जो अपने विवेक को अपनी जेब में रखकर उसकी बुद्धि को निरंकुश छोड़ देता है। कोई भी अनुभवी शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री इस रीति का अनुमोदन न करेगा। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री ने निर्दोष और पवित्र वायु-मण्डल में ही मनुष्य की उच्च मनोवृत्तियों के अर्थात् मनुष्यता के विकास की कल्पना की है। मनुष्य निसर्गतः स्वतन्त्र है, पर निरंकुश नहीं। प्रकृति का साम्राज्य इतना सुव्यवस्थित है कि उसमें निरंकुशता के लिए ज़रा भी जगह नहीं है। प्रकृति के राज्य में पशु-पक्षी भी, अपने समाज के अन्दर, निरंकुश नहीं हैं। जहाँ कोई निरंकुश हुआ नहीं कि प्रकृति ने अपना राज-दण्ड उठाया नहीं। फिर उस शिक्षक या साथी से समाज को लाभ ही क्या, जो अपने विवेक का लाभ उसे न पहुँचाता हो। अन्न और कंकर

दोनों वस्तुयें बालक के सामने लाकर रख देने और चुनाव की सारी पसंदी उसपर छोड़ देनेवाले शिक्षक के विवेक की कोई प्रशंसा करेगा ? सन्तान-वृद्धि को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य और कृत्रिम साधन इन दो में से कृत्रिम साधनों की सिफारिश करनेवाले और ब्रह्मचर्य को सर्वसाधारण के लिए अ-सुलभ बताने वाले शिक्षक या डाक्टर की स्तुति कितनी की जाय ? वे तो और एक क़दम आगे बढ़ जाते हैं—चुनाव की पसंदगी भी जन-साधारण पर नहीं छोड़ते, उलटा स्पष्टतः अपने प्रिय (और मेरी दृष्टि में हानिकर) साधन की सिफ़ारिश भी करते है और सर्वसाधारण के लाभार्थ उसकी विधि भी बता देते हैं !

स्वतन्त्रता और निरंकुशता या उच्छृङ्खलता दो जुदी चीज़ें हैं। स्वतन्त्रता का मूलाधार है संयम, निरंकुशता का मूलाधार है स्वेच्छाचार। संयम के द्वारा मनुष्य स्वयं तो स्वतन्त्र होता ही है पर वह औरों को भी स्वतन्त्र रहने देता है। स्वेच्छाचार का अर्थ है औरों की न्यायोचित स्वतन्त्रता का अपहरण। यदि हमें औरो की स्वतन्त्रता भी उतनी प्यारी हो जितनी कि खुद अपनी हमे प्यारी है, तो हमें संयम का व्यवहार किये बिना चारा नही। जो ख़ुद तो स्वतन्त्र रहना चाहता है, पर दूसरे की स्वतन्त्रता की परवा नहीं करता, वह स्वतन्त्रता का प्रेमी नही, स्वेच्छाचार का प्रेमी है, स्वार्थान्ध है। ब्रह्मचर्य संयम का ककहरा है और

विवेक संयम का नेता है। अतएव विवेकहीन ज्ञान-प्रचार अज्ञान-प्रचार का दूसरा नाम है। गन्दी बातों का प्रचार स्वेच्छाचार है। स्वेच्छाचार समाज का अपराध है। स्वेच्छाचार और असंयम एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मनुष्य संयम करने के लिए चारों ओर से बाध्य है। प्रकृति का तो वह धर्म ही है। स्वेच्छाचार या असंयम प्रकृति का नहीं, विकृति का धर्म है। प्रत्येक मनोवेग को प्रकृति का धर्म मानकर उसे उच्छ्रृंखल छोड़ देना पागलपन या उन्मत्तता को प्रकृति का धर्म बताना है। ऐसा समाज मनुष्यों का समाज न होगा। राक्षसों का समाज होगा, दीवानों का समाज होगा। मनुष्य स्वयं भी संयम के लिए प्रेरित होता है और जबतक उसे स्वयं ऐसी प्रेरणा नहीं होती, तबतक समाज उससे संयम का पालन कराता है—नीति और सदाचार के नियमों की, रचना करके और उनका पालन कराके। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति, स्वयं-प्रेरणा और समाज तीनों के द्वारा संयम करने के लिए बाध्य है। मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है—संयम का पुतला। मनुष्य-समाज और पशु-समाज में अन्तर डालने वाली यदि कोई बात है तो यही कि मनुष्य-समाज में नीति-सदाचार, विवेक की सुव्यवस्था है, पशु-समाज में नहीं। यदि हो तो उसका ज्ञान हमें नहीं। नीति-सदाचार मनुष्य के गहरे सामाजिक और

आत्मिक अनुभव के फल हैं। उनकी उपेक्षा करना लड़कपन है। उनकी हँसी उड़ाना स्वयं अपने को गालियाँ देना है। फिर किसी वैज्ञानिक विषय की वैज्ञानिक ढंग पर, उसके जिज्ञासुओं के सामने विज्ञानशालाओं में चर्चा करना एक बात है, और सर्वसाधारण के सामने, लड़के-लड़कियों के सामने, उनका प्रदर्शन करना, प्रचार करना, विधि-विधान बताना हद दर्जे का स्वेच्छाचार है। सुव्यवस्थित और शिष्ट समाज इसे सहन नहीं कर सकता। अतएव जबतक समाज को आप इस बात का यक़ीन नहीं करा सकते कि सुरुचि, अश्लीलता, शिष्टता-सम्बन्धी आपकी कसौटी ही ठीक है तबतक आपका यह कृत्य निरंकुश ही माना जायगा। समाज के 'मौन' को 'सम्मति-लक्षण' मानना तो भारी ग़लती है। नहीं, उसकी सज्जनता और सहनशीलता का उसे दण्ड देना है।

योरोप की कितनी ही बातें अनुकरण-योग्य हैं, पर हर नई बात नहीं। हमें अपने विवेक से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। योरोप अभी बच्चा है—भारत बूढ़ा है। आज भारत चाहे पराजित हो, ग़ुलाम हो, पतित हो, पर अब भी योरोप को वह समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा दे सकता है। उसके ज्ञान और अनुभव की सच्ची क़दर तब होगी जब योरोप कुछ प्रौढ़ावस्था में पदार्पण करेगा। इसलिए योरोप की किसी भी नई चीज़ का स्वागत

करने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ इसके लिए क्या विधि-विधान हैं। यदि कुछ भी न होंगे, या योरोप से अच्छे न होंगे तभी हम देश, काल, पात्र का पूरा विचार करके उसको अपनावें। कोई चीज़ महज़ इसीलिए अनुकरणीय नहीं हो सकती कि वह नई है, या योरोप की बनी है। गुण-दोष की छान-बीन होने के बाद ही अनुकरण होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। संयम के गुण स्पष्ट हैं। दिल को कड़ा करके थोड़ा-सा अनुभव कर देखिए। हाथ कंगन को आरसी क्या? हमारा मन अपने वस में नहीं रहता इसलिए ब्रह्मचर्य को कोसना अपनी निर्बलता की नुमाइश दिखाना है। इन्द्रिय-निग्रह में कौड़ी का ख़र्च नहीं, कृत्रिम साधन ख़रीदने के लिए डाक्टरों की दूकानों पर जाकर रुपया बर्बाद करने की ज़रूरत नहीं। थोड़ा मन को बस में रखने की ज़रूरत है। आश्चर्य और खेद इस बात पर होता है कि लोग कृत्रिम साधनों को ब्रह्मचर्य से ज्यादह सरल और सुसाध्य बताते हैं। यदि हमें सचमुच अपनी सन्तति के ही कल्याण की इच्छा है, जिसका कि दावा कृत्रिम साधनों के हामी करते हैं, अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की इच्छा नहीं, तो हम अनुभव करेंगे कि कृत्रिम साधनों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक, सस्ता, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-वर्धक और स्थायी साधन है। यह मानकर

कि ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिए कुछ मुश्किल है, कृत्रिम साधनों की सिफारिश करना ऐसा ही है जैसा कि हमारी सरकार का फौज के लिए वेश्याओं की तजवीज़ करना या घर में शराब बनाना बुरा है इसलिए शराब की भट्टी खोलकर वहाँ पीने भेजना। कृत्रिम साधनों के उपयोग की सिफारिश करना लोगों को कायरता की शिक्षा देना है—एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन की आवश्यकता न रहने देकर और दूसरी ओर सन्तान के पालन-पोषण के भार से मुक्त करके विषय-भोग की उन्मत्तता तो वे अपने अन्दर क़ायम रखना चाहते है, पर उसकी जिम्मेवारियों से दुम दबाना चाहते है। यह हद दरजे की कायरता है। या तो संयम का पालन करके पुरुषार्थ का परिचय दीजिए या सन्तान का भार वहन करके पुरुषार्थी बनिए। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए सिर्फ सादा जीवन, सत्संगति, शुद्ध विचार की आवश्यकता है। उन्हे यह सब मंज़ूर नहीं। अपने क्षणिक शारीरिक सुख के लिए, अपनी कल्पित कमजोरी की बदौलत, सारे मानव-वंश के कुछ मृदुल और सात्विक गुणों के विनाश का बीज बोना, इस स्वार्थान्धता का, इस अज्ञान का कुछ ठिकाना है! उन्होने सोचा है कि इस अनियंत्रित कामलिप्सा और उसकी निरंतर पूर्ति से स्वयं उनके शरीर, मन और बुद्धि पर तथा उनकी सन्तान की मनोदशा और प्रवृत्तियों पर क्या असर होगा? योरोप के मनोविज्ञानियों का कहना है कि

ऐसे अप्राकृतिक साधनों के प्रयोग की बदौलत वहाँ एक भिन्न और विपरीत प्रकृति का नया वर्ग ही निर्माण हो रहा है! गृहस्थ-जीवन की हस्ती जबतक दुनिया से मिट नहीं जाती तबतक कृत्रिम उपायों से सन्तान-वृद्धि-निग्रह का प्रचार करना गृह-जीवन को नीरस और अमंगल बनाने को प्रयत्न करना है। पता है, आप के गुरु योरोप में अब केवल कम सन्तति नहीं, बिल्कुल ही सन्तति न होने देने की इच्छा अंकुरित हो रही है? क्यों? वे नहीं चाहते कि सन्तति की बदौलत उनके शारीरिक और आर्थिक सुख में बाधा पड़े! अनियंत्रित प्रजोत्पादन के हक़ में कोई भी विचार-शील पुरुष राय न देगा। पर उसका स्वभाविक साधन ब्रह्मचर्य है, संयम है, नकि ये कृत्रिम साधन। उनसे अभीष्ट-सिद्धि के साथ ही मनुष्य के बल-वीर्य की और उच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों की वृद्धि होगी, तहां कृत्रिम साधनों से व्यक्तिगत, शारीरिक सुखेच्छा-मूलक स्वार्थ-भाव और हीन तथा विपरीत मनोवृत्तियों की वृद्धि होगी! नीति और सदाचार सामाजिक सुव्यवस्था की बुनियाद है। अत-एव क्या विज्ञान, क्या क़ानून, क्या कला सब नीति और सदाचार के पोषक होने चाहिए। पर समाज में कुछ विप-रीत मनोवृत्ति वाले लोग भी देखे जाते हैं जो इन साधनों का उपयोग नीति-सदाचार के घात और निरंकुशता तथा स्वेच्छाचार की वृद्धि के लिए किया करते हैं। हो सकता

है कि उनका प्रेरक हेतु जन-कल्याण ही हो, पर इस में कोई शक नहीं कि उनकी कार्य-विधि में विचार, अनुभव और ज्ञान की जगह जोश, आतुरता और अविचार हुआ करता है। विचार-हीन उत्साह को बन्दर की लीला ही समझिए।

इसलिए उन सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि दया करके देश के युवको को इस कायरता और स्वार्थान्धता के उलटे रास्ते पर न ले जाइए। यदि आप देश-हितैषी है तो उन्हें पुरुषार्थ की, ब्रह्मचर्य की ही शिक्षा दीजिए। उसी के प्रचार की तजवीजें सोचिए। ईश्वर के लिए अपनी कमजोरियो का शिकार उन्हे न बनाइए। मनुष्य क्या नहीं कर सकता ? जो मनुष्य सारे पृथिवी-मण्डल को हिला सकता है, हम देखते ही हैं कि वह हिला रहा है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, संयम पूर्वक गृहस्थ-जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, ऐसी बातें शिक्षित मनुष्यो के, जिस पर भी भारतवासी के, मुँह से शोभा नही देतीं। जो बात जरा मुश्किल मालूम होती है उसके लिए फौरन अविचार-मूलक आसान तजवीज खोजना, मानो पुरुषार्थ-हीन बनाने का कार्य्यक्रम तैयार करना है। कोशिश करने की जरूरत अगर है तो मुश्किलों को आसान बनाने की, ऊपर चढ़ने की तदबीर करने की, नकि मुश्किलों से दुम दबाकर आसानी का नुसखा दिखाने की या नीचे गिरने और फिस-लने की तरकीब बताने की। ब्रह्मचर्य को एकबारगी गालियां

न दे बैठिए। ज़रा अपने बुज़ुर्गों के अनुभवों को भी पढ़ देखिए। उन्होंने जीवन के हर अंग में ब्रह्मचर्य और संयम की ज़रूरत बताई है। गृहस्थ-जीवन को भी उन्होंने मनुष्य की उन कमज़ोरियों के लिए जिन्हें वह अबतक दूर नहीं कर पाया है—एक रिआयत के तौर पर माना है। उनके सामाजिक ज्ञान और अनुभव को बिना देखे ही, बिना आज़माये ही धता न बताइए। मैं यह नहीं कहता कि बड़ों-बूढ़ों के या किसी के भी ग़ुलाम बनो। पर मैं यह जरूर कहता हूँ, जो अपने मनोवेगों के आगे विचार और अनुभव की सीख पर ध्यान नहीं देता वह इस उक्ति को अपने पर चरितार्थ करेगा—

सुहृदां हितकामानां न शृणोति हि यो वचः।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति॥

हम ज़रूर स्वतन्त्रता के हामी हों, पुजारी हों, पर अविवेक के नहीं; हम ज़रूर ज्ञान के लिए लालायित रहें, पर अश्लील बातों के नहीं—बुरी बातों के नहीं। बुरी बातों का मिटाना मुश्किल है, इसलिए उनको सुलभ और इष्ट बनाना सुनीति नहीं है।

इन दिनों हिन्दी भाषा में इस विषय पर साहित्य बढ़ रहा है। एक तो विषय की नाज़ुकता और नवीनता यही दोनों पाठकों के आकर्षण के लिए काफ़ी हैं। तिस पर यदि अश्लीलता की पुट चढ़ने लगी तो फिर साहित्य-गृह और

अन्त:पुर के भी अन्त:पुर में कोई भेद न रह जायगा। और मेरी अल्प मति में इस भेद की आवश्यकता समाज में तबतक है और रहेगी जबतब मनुष्य को कुछ बातें सर्व-प्रकट होने पर भी परदे के अन्दर करनी पड़ती हैं, दूसरे शब्दों में जबतक मनुष्य मनुष्य है, पशु नहीं होगया है।

अतएव हिन्दी के लेखक और सम्पादक बन्धुओं से मेरी प्रार्थना है कि यदि देश-कल्याण के लिए इन कृत्रिम साधनों का ज्ञान करना, उन्हे अनिवार्य मालूम होता हो—हालांकि मै इसे महज़ फज़ूल ही नहीं घातक भी मानता हूँ—तो वे कम-से कम भारतीय समाज की सुरुचि पर दया रक्खें; विवेक छोड़कर उसका संहार न करें। यही विनय उन पत्र-संपादक मित्रों से है जो जन-समाज की हीन वृत्तियो को उत्तेजित करके समाज मे कुरुचि, अशिष्टता और अश्लीलता की अनर्गल धारा बहाने मे सहयोग कर रहे हैं। आशा है, वे न्याय-पूर्वक इस पर विचार करेंगे।

---

[६]

लोक-रंजन या लोक-कल्याण ?

हिन्दी-पत्र-संसार के सामने एक गम्भीर प्रश्न है कि मासिक-पत्रों का मुख्य उद्देश्य लोक-रंजन है या लोक कल्याण ? मेरा मत है लोक-कल्याण। बल्कि मैं तो कहूँगा कि एकमात्र लोक-कल्याण ही सब प्रकार के पत्रों का उद्देश्य है और होना चाहिए। मनोरञ्जन को उद्देश्य में स्थान नहीं मिल सकता, न मिलना चाहिए। लोक-हृदय ठहरा बाल-हृदय। जटिल और गूढ़ ज्ञान-तत्त्व यदि नीरस और क्लिष्ट-भाषा में उसके सामने उपस्थित किये जायँ तो वह उन्हें सहसा आकलन और ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए कुशल लेखक मनोरंजन की पुट लगाकर उसे उसके अर्पण करता है। यही उसकी कला है। यही, और इतना ही, मनोरञ्जन का महत्व है।

सामान्यतः हिन्दी-साहित्य की और विशेषतः पत्र-साहित्य की वर्तमान गति-विधि पर मेरे कुछ विचार हैं।

इसकी कुछ प्रवृत्तियाँ मुझे हिन्दी-समाज के लिए अकल्याण-कारिणी प्रतीत होती हैं। मुझे उनपर कई बार दुःख होता है। कई मित्रो ने भी अपना ऐसा ही दुःख मुझपर प्रकट किया है! मैंने जी कड़ा करके कई बार पत्र-पत्रिकाओं की आलोचना और उलहने के रूप में अपना दुःख प्रकट किया। मैं महसूस करता था कि कहीं यह मेरी ढिठाई न हो, छोटे मुँह बड़ी बात न हो। पर दूसरे और समर्थ मित्र इस नाजुक मामले मे न पड़े। मैंने सोचा, अपना दुखड़ा समाज के सामने न रोऊँ तो कहाँ जाऊँ?

मेरी एक शिकायत यह है कि हिन्दी के पत्रकार लोक-रुचि का जितना खयाल करते हुए दिखाई देते हैं उतना लोक-कल्याण का नहीं। बहुत बार वे लोक-रुचि की वेदी पर लोक-कल्याण को कुरबान भी कर देते हैं। मैंने खास-कर सामयिक पत्रों के चित्रो की आलोचना करके इस आक्षेप को पुष्ट किया। दृश्यवस्तु का ही असर पाठक के हृदय पर सबसे पहले होता है। पत्र-पत्रिकाओं के चित्रों पर ही पाठकों की दृष्टि सबसे पहले पड़ती है। उसके बाद उनका ध्यान जाता है या तो कविताओं पर या समाचारों पर। साधारण पाठक के चित्त पर चित्रो और कविताओं का असर सूत्रो और मन्त्रो की अपेक्षा ज्यादा होता है। इसीलिए कवि और चित्रकार, एक ही शब्द में कहे तो, कलाकार, की महिमा कोरे गद्य-लेखक से ज्यादा है। दूसरे

कविता साहित्य पर तो कभी-कभी पत्रों में कुछ टीका-टिप्पणी हो भी जाया करती है, पर चित्र-साहित्य की ओर शायद ही किसी का ध्यान गया हो। शुद्ध और उच्च संगीत का तो आधुनिक हिन्दी-पत्र संसार में जन्म भी न हो पाया है। अस्तु।

आज ही मेरे हाथ में 'सरस्वती' का विशेषांक पड़ा। उसके इस नवीन धीर-गम्भीर रूप को देखकर हृदय भक्ति-भाव से भर गया। मुख-पृष्ठ कला-सुन्दर होते हुए भी अत्यन्त भावमय—उच्च भावमय है। तुलसीदास का चित्र खींचने में तो चितेरे ने अपनी क़लम की पूरी-पूरी करामात दिखाई है। बालसखा का विज्ञापन फाड़ डालने पर चित्त की रौनक़ और भी बढ़ जाती है।

भारत के आधुनिक चित्र-कला के गुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की 'भारतमाता' अनुपम है, अद्वितीय हैं। दोनों चित्रों के चरणों में हठात् सिर झुक ही जाता है। 'रहस्य भेद' प्राचीन चित्र-कला का उत्कृष्ट नमूना है। क़लम की बारीकी, रङ्ग की मिलावट और सबसे बढ़कर चित्र-प्रसंग की कल्पना और भाव का मानों हृदय में चित्र ही खिंच जाता है। इसमें मुझे 'हरिहास हेतुरुल्लास' की अपेक्षा रमणीय तन्मयता अधिक मालूम होती है और अनेक सादे भावपूर्ण चित्र भी हैं। उनमें रमणीयता और लालित्य की अपेक्षा गम्भीरता अधिक है। इस संख्या की साहित्य-

सामग्री भी निर्दोष, बहुत परिश्रम-पूर्वक निर्वाचित, संकलित और सम्पादित हुई है। यदि इस संख्या को अगली संख्याओं का आदर्श नमूना मानें तो 'सरस्वती' हिन्दी-संसार में पूज्यस्थान पाये बिना न रहेगी।

सम्पादकीय स्तम्भ—अपनी बात—में 'सरस्वती' के विचार-शील और मर्मज्ञ सम्पादकों ने 'लेख-रुचि' का भी विश्लेषण किया है। उसे पढ़कर मन हुआ कि लेखक यहाँ हों तो उनकी लेखनी चूम लूँ। पर उससे मेरी तृप्ति न हुई। प्रश्न यह नहीं कि लोक-रुचि क्या चीज़ है, प्रश्न यह है कि सम्पादक या कलाकार लोक-रुचि का अनुसरण करें या लोक-कल्याण या लोक-शिक्षण का प्रयत्न करें? इसका उत्तर 'अपनी-बात' में सम्पादकों की तरफ से यह मिलता है—"मासिक पत्रिकाओं का प्रधान उद्देश्य लोक-रंजन है। परन्तु यदि मनोरंजन के साथ पाठकों की कुछ ज्ञान-वृद्धि नहीं हुई, यदि उन्हे कुछ शिक्षा नहीं मिली, यदि सत् की ओर उनका अधिक अनुराग नहीं हुआ तो पत्रिका का उद्देश्य सफल नहीं हुआ।" मेरी राय मे यह उद्देश्य किसी कथा-वार्ता की पुस्तक का हो सकता है, मासिक-पत्रिका का नहीं।

इसके सम्बन्ध मे दो मत है। एक मत के लोग कहते हैं, पत्र-संचालन और व्यवसायो की तरह एक व्यवसाय है। यद्यपि वह औरों से श्रेष्ठ है, उसके द्वारा ज्ञान और शिक्षा-

लाभ होता है, तो भी वह है व्यवसाय ही। व्यवसायी का मुख्य काम होता है ग्राहक की रुचि देखना, उसकी रुचि और पसन्दी के अनुसार तरह-तरह की चीजें रखना। चीजों को वह सजाता भी इस तरह है कि लोग उसीकी दूकान पर खिंचकर चले आवें। इसके लिए उसे अपनी चीजकी खास तौर पर तारीफ़ भी करनी पड़ती है। इन सब बातों के करने में उसे इसी बातका सबसे बड़ा ख़याल रहता है कि ग्राहक कहीं नाराज़ न हो जाय, कहीं हमारी दुकान न छोड़ दे। यह निर्विवाद बात है कि सर्वसाधारण जन उस चीज की ओर ज़्यादा आकर्षित होते हैं जो चमकीली हो, चटकीली हो, फिर वह घटिया हो तो परवा नहीं। इसलिए व्यवसायी ऐसी ही चीज़ों को अपनी दुकान में ज्यादा रखता है। दूसरी बढ़िया, अच्छी, और ज्यादा उपयोगी चीज़ें भी वह रखता है, पर वे उसके नजदीक गौण हैं, क्योंकि वह कहता है, इसके ख़रीददार थोड़े होते हैं।

दूसरे मत के लोग पत्र-संचालन को एक 'सेवा' समझते हैं। वे कहते हैं कि पत्र-सम्पादक साहित्य के चौकीदार हैं, जनता के वैद्य हैं, शिक्षक हैं, पथ-दर्शक हैं, नेता हैं। वे अपने सिर पर बड़ी भारी जिम्मेवारी समझते हैं। उन्हें सदा सर्वदा इस बात का ख़याल रहता है कि कहीं ऐसा न हो, हमारे किसी वचन, कृति, या संकेत से जनता का

अकल्याण हो, वह बुरे रास्ते चली जाय, बुरे और गन्दे भावों, विचारों और कार्यों को अपना ले, ऐसे कामों में लग जाय जो उसे प्यारे मालूम होते हों, पर जो वास्तव में उसके लिए अकल्याणकारी हो। इस बात की तरफ इतना ध्यान नहीं देते कि लोगों को कौन-सी बात प्रिय है; बल्कि इसी पर उनका मुख्य ध्यान रहता है कि उसका कल्याण किस बात में है? वह प्रेय नहीं, श्रेय साधक अपने को मानते हैं। इसलिए वे लोक-रुचि का अनुसरण उसी हद तक गौण या प्रधान रूप से करते हैं जिस हद तक उसके द्वारा वे जनता के कल्याण को सिद्ध होता हुआ देखते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है, और इतिहास इस बात का खूब साक्षी है कि उन्हे लोक-रुचि के खिलाफ़ सरेदस्त आवाज़ उठानी पड़ती है और लोग पीछे से मानते हैं कि हाँ, उनकी बात ठीक थी। ऐसे संपादक पत्र-संचालन का उद्देश्य, फिर वह दैनिक हो, मासिक हो, या साप्ताहिक हो, 'लोकरंजन' नहीं 'लोक-कल्याण' मानते हैं और इसीलिए वे लोकरंजन या मनो-रंजन को गौण स्थान देते हैं। 'लोकरंजन' से जनता शुरू मे खुश भले ही हो, लोकरंजन कुछ काल के लिए लोकप्रिय भी भले ही हो, वह सफल भी भले ही होता हुआ दिखाई दे, लाखों रुपये भी भले ही पैदा करले, परन्तु उससे सर्व-साधारण की सेवा ही होती है, कल्याण ही होता है, यह बात नहीं। तुलसी और सूर की लोक-प्रियता पर कोई

सवाल उठा सकता है ? क्या वे 'लोकरंजन' के अनुगामी थे ? लोक-कल्याण किस बात में है इसके जानने का आधार 'लोक-रुचि' नहीं, बल्कि लोक-शिक्षक की विद्या-बुद्धि, ज्ञान और अनुभव है। लोक-शिक्षक जितना ही अधिक त्यागी, संयमी, निःस्वार्थ, कष्ट-सहिष्णु, सदाचारी, और प्रेम-मय होगा उतना ही अधिक वह पत्र-संपादन के योग्य होगा।

कला की महत्ता और उपयोगिता यदि संसार में कुछ है तो वह यही कि वह शिक्षक या सेवक को सर्वोत्कृष्ट शिक्षा देने या सेवा करने के योग्य बनाती है और स्वयं भी सर्वोत्तम शिक्षा देती है, हृदय को शुद्ध, पवित्र और उदात्त भावों से भर देती है, जिससे ऐसे ही कामों के करने की प्रेरणा मिलती रहती है। लोग जिन चीज़ों को, जिन दृश्यों को सदा-सर्वदा अपने आस-पास देखते हैं—देख सकते हैं, उसके चित्रों की, उसके प्रतिबिम्बों की उसे कोई आवश्य-कता नहीं। प्रकृति की सुन्दरता को वे देखते हैं। चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को वे देखते हैं। नदियों को बहता हुआ और समुद्र को उछलता हुआ भी वे देखते हैं। पहाड़ों के भी विविध दृश्य उनकी नजर से नहीं बचते। पर वे उनके उन भावों को, उन उपदेशों को, उन सन्देशों को, उन प्रेरणाओं को नहीं समझ पाते, नहीं लख पाते, नहीं ग्रहण कर पाते, जो एक कवि या कलाकार कर पाते हैं। इसीलिए कवि या कलाकार का यह कार्य माना गया है कि वे उन भावों

का, उन सन्देशों का, उन प्रेरणाओं का चित्र खड़ा करें, उनकी ऐसी मूर्ति खड़ी कर दें कि वही बात देखने वाले के हृदय में उठने लगे। उसे मालूम हो मानों वे भाव और सन्देश स्वयं ही उनके सामने खड़े है, उनका हृदय खोल-कर दिखा रहे है और कह रहे हैं चलो, हमारे साथ चलो, तुम्हारा कल्याण होगा। इसीलिए कला स्थूल प्राकृत रूप-सौंदर्य को नही कहते, बल्कि सूक्ष्म, आत्मिक भाव-सौंदर्य को कहते है। ऐसे कलाकार की सृष्टि अवश्य ही ब्रह्मदेव की सृष्टि से भिन्न होगी। उसे दूसरा ब्रह्म ही समझिए। श्री चगताई के तुलसीदास भसदेव-निर्मित तुलसीदास से भिन्न है, नवीन हैं। वह तुलसी की आत्मा है, भक्ति है, पवित्रता है। यही चगताई की कला है। इसीलिए यह कहा गया है कि सुन्दर वही वस्तु है जो सत्य है, जो शिव है। सत् और कल्याण को छोड़कर सौंदर्य का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। केवल रूप-सौंदर्य में विलासिता है, भोग है और दोनो का अन्तिम फल है पतन, यह अनुभव की बात है। यदि ज़हर पिये बिना ज़हर के फल को न मानने की इच्छा हो तो जो चाहे अनुभव करके देखले। हज़ारों अधेड़ और खास कर बूढ़े आपको अपनी जवानी पर रोते हुए दिखाई देंगे। उसका कारण है रूप-सौंदर्य से उत्पन्न विलासिता और भोग का प्रभाव।

संसार में दो तरह के आदमी देखे जाते हैं। एक कल

पर दृष्टि रखता है, दूसरा आज में मगन रहता है। एक ऊपर देखता है, आगे उँगली दिखाता है, दूसरा आसपास देखता है। एक देने के लिए तैयार रहता है, छोड़ने में लेने से बढ़कर सुख देखता है, दूसरा रखने में और चखने में आनन्द पाता है। एक संयम में जीवन की सार्थकता मानता है, दूसरा स्वच्छंदता में। एक त्यागी है, दूसरा भोगी है। ये दोनों एक दूसरे के सिरे पर रहने वाले लोग हैं। इनके बीच में एक तीसरा दल भी रहता है। उसे एक की उग्रता और दूसरे की शिथिलता, दोनों पसन्द नहीं। इधर त्याग की आग के पास जाने की भी हिम्मत उसे नहीं होती, उधर भोग के रोग से भी वह घबराता है। कल उसे बहुत दूर—इतना दूर कि शायद उसे पहुँचने की भी आशा न हो—दिखाई देता है और आज नीरस मालूम होता है। आगे उँगली उठाने में उसे खतरा मालूम होता है और आस-पास देखते रहना निरर्थक। देने और देते रहने में उसे अपने दरिद्र हो जाने का डर रहता है और केवल रखने और चखने से उसे सन्तोष नहीं होता। यह जीवन को संग्राम-भूमि बनाना चाहता है, न असहयोग का अखाड़ा, और न फूलों की सेज। वह न इधर का होता है न उधर का। वह आराम से चाहे रह सके, पर उन्नति ही करता रहेगा यह नहीं कह सकते। वह सन्तुष्ट चाहे रहे, पर पुरुषार्थ भी दिखावेगा, यह निश्चय नहीं। बिना खतरे

का सामना किये, बिना जान जोखों डाले, दुनिया में न कोई आदमी आगे बढ़ सकता है, न दूसरे को बढ़ा सकता है! परन्तु यह मध्य-दल तो अपने आस-पास हमेशा किले-बन्दी करता रहता है, फूंक-फूंक कर क़दम रखता है, सम्हल-सम्हलकर चलता है। इसे वह विवेक समझता है। जो हो। 'लोक-रञ्जन' के अनुगामी अधिकांश में दूसरी और तीसरी श्रेणी में हुआ करते हैं। 'लोक-शिक्षक' पहली ही श्रेणी में अधिक होते हैं। दोनो मे मुख्य भेद यही है कि एक का मुख्य ध्यान 'लोक-कल्याण' की ओर होता है और दूसरे का मुख्य 'लोक-रुचि' की ओर। सच्चा कलावित् ही सच्चा शिक्षक हो सकता है और सच्चे शिक्षक होते हैं कला-मर्मज्ञ। यह सच है कि वे अपने आसन से उतर कर जनता के पास जाते है, उससे मिलते हैं, और उससे अपनी सहानुभूति जोड़ते हैं, पर उतरते हैं, उसे अपने आसन पर—ऊपर लाने के लिए, सहारा देने के लिए, उनपर अपना रंग जमाने के लिए, जाकर रह जाने के लिए नहीं, और उन्ही के रंग में रंग जाने के लिए तो हरगिज़ नही।

जहाँ कलाकार या शिक्षक 'लोक-रंजन' के फेर में पड़ा कि वह 'लोक-सेवक' न रहा, व्यवसायी हो गया।

यह प्रश्न प्राचीनता और नवीनता का, पूर्व और पश्चिम का नहीं है, बलिक कल्याण और अकल्याण का है। कोई

भी विचारशील और बहुदर्शी मनुष्य आँखें मूदकर पुरानी और-अपनी बातों को ही श्रेष्ठ और संसार की श्रेष्ठता का सार-सर्वस्व न मानेगा, न मानने के लिए औरों से कहेगा। पर यदि किसी नवीन वस्तु से वह अपनी और पुरानी वस्तु को श्रेष्ठ समझता होगा तो वह जरूर पुरानी की पुष्टि और नवीन का अनादर करेगा और करने की प्रेरणा करेगा। सभी वस्तुयें न इसलिए कि नई हैं, ग्राह्य हो सकती हैं और न इसलिए कि पुरानी हैं, त्याज्य हो सकती हैं। ग्राह्यता और त्याज्यता का विचार हमें अपनी सारासार बुद्धि, तारतम्य, और संसार के अनुभव के बल पर करना होगा। उसकी मुख्य कसौटी होगी 'लोक-कल्याण', 'लोक-रंजन' नहीं ! श्रेय, प्रेय, नहीं। संसार में आजतक जितने विचारक और महापुरुष हुए हैं उनके अनुभव का सार यही है। इसमें मत-भेद के लिए जगह ही नहीं। और जहाँतक कला से इसका ताल्लुक़ है पूर्व और पश्चिम दोनों के महान् और श्रेष्ठ कला-समालोचकों की नहीं, बल्कि स्वयं कला-विशारदों की गवाहियाँ इसके लिए दी जा सकती हैं। परन्तु इस लेख में उसके लिए अब स्थान नहीं रह गया है। इसलिए आज यहीं विश्राम लेता हूँ।

---

[७]

सदाचार और साहित्य-सेवा

यों तो हर प्रकार की सेवा के लिए सदाचार की परम आवश्यकता है, परन्तु साहित्य-सेवा के लिए और भी अधिक। साहित्य-सेवा केवल 'मनोरंजन' या 'फुरसत के वक्त का धन्धा' अथवा 'समय बिताने का साधन' नहीं है, वह समाज—सेवा का एक अंग है, साधन है। साहित्य की रचना इसीलिए की जाती है कि उसके द्वारा समाज का हित-साधन हो। यही कारण है कि हम साहित्य के उसी अंश को चिरंजीवी और सदा नव-पल्लवित देखते हैं जिसके द्वारा समाज का कल्याण-साधन हुआ हो। इसके विपरीत जिस साहित्य का जन्म आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के लिए होता है वह बरसाती लताओं के सदृश चार रोज़ अपनी झांकी दिखाकर लोप हो जाता है। संसार के साहित्य में इसे भी स्थान होता है; पर एक कोने में। विचार कार्य का नेता होता है। साहित्य विचारमय,

विचार-रूप होता है। साहित्य को अक्षर-बद्ध ज्ञान-भांडार ही कहिए न। साहित्य का एक संकुचित अर्थ भी होता है—साहित्य-शास्त्र। परन्तु जब हम साहित्य-सेवा शब्द का उच्चारण करते हैं तब हमारा भाव केवल साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी रचना नहीं होती है, बल्कि ज्ञान-भण्डार की पूर्ति भी। और समाज होता है कार्य-मय, कार्य-रूप। अतएव साहित्य समाज का नेता हुआ। और नेता कौन होता है? जो अधिक-से-अधिक, सच्ची-से-सच्ची स्वच्छ और शुद्ध सेवा करता हो! ऐसा मनुष्य अपने को सेवक समझता है, पर समाज उसे अपना नेता मानता है। और क्या सदाचार के बिना किसी किस्म की सेवा हो सकती है? क्या जिस कार्य के मूल में सदाचार न हो, जिसके करने वाले सदाचारी न हों, उसे सेवा कह सकते हैं? सेवा का अर्थ है वह काम जिसके द्वारा जन-कल्याण हो और सदाचार का अर्थ है ऐसा आचरण जिससे अपना और दूसरों का भला हो। अर्थात् सेवा और सदाचार कोई भिन्न चीज़ नहीं हैं। सदाचार ही सेवा है। जो मनुष्य स्वयं सदाचारी बनने का प्रयत्न करता है वह समाज की सेवा ही करता है। वह अपने को अधिक उच्च सेवा के लायक ही बनाता है। इस विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो साहित्य-सेवी सदाचारी होगा वही साहित्य-सेवा कर सकेगा, वही साहित्य-सेवा का अधिकारी हो सकता है।

यहाँ सदाचार की कुछ और विवेचना करने की जरूरत है। कुछ लोग आचार के दो भेद कर डालते हैं—एक, व्यक्तिगत आचार और दूसरा, सामाजिक आचार। वे समझते हैं कि मनुष्य का सामाजिक आचार शिष्टता, सभ्यता और शुद्धतापूर्ण हो तो बस! सामाजिक बातों में व्यक्तिगत आचार पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। जैसे यदि कोई आदमी अपने घर पर गाँजा या शराब पीता हो, चुपके-चुपके व्यभिचार करता हो, पर यदि वह खुले आम ऐसा न करता हो, समाज में उसका प्रचार या प्रतिपादन न करता हो, तो इसे वे दोष न मानेंगे। यदि मानेंगे तो क्षम्य मानेंगे। मैं इस मत के खिलाफ हूँ। मेरी राय में यह भ्रम-पूर्ण ही नहीं, सदोष ही नही, महा-पाप है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन से जुदा नहीं हो सकता। व्यक्तिगत जीवन का असर सामाजिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जो मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध नही रख सकता वह सामाजिक जीवन को क्या शुद्ध रख सकेगा? जो खुद अपने, एक आदमी के आचार पर कब्जा नहीं रख सकता, वह सारे समाज के आचार पर कैसे रख सकेगा? मनुष्य खुद जैसा होता है वैसा ही वह औरों को बनाता है चाहे जान मे, चाहे अनजान में। और व्यवहार में भी हम देखते हैं कि समाज पर उसीका सिक्का जमता है जो सदाचारी होता है, जिसका

व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का आचार शुद्ध होता है। एक दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन उसी मनुष्य के जीवन को कह सकते हैं जिसने समाज से और कुटुंब से अपना सब तरह का सम्बन्ध तोड़ लिया है, जो अकेला किसी जंगल में या पहाड़ की गुफा में जाकर रहता हो और खाने, पीने, पहनने तक के लिए किसी मनुष्य-प्राणी पर आधार न रखता हो, शिक्षा तक न ग्रहण करता हो। परन्तु जिस मनुष्य ने इतना भारी त्याग और संयम कर लिया हो उसका जीवन सच पूछिए तो व्यक्तिगत न रहा, सामाज़िक से भी बढ़कर सार्व-भौमिक हो गया। उसके चरित्र का असर सारे भूमण्डल पर हो सकता है, और होता है। इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं दिखाई दे सकती जिसे हम 'व्यक्तिगत' कह सकें। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सदाचार से जहाँ तक सम्बन्ध है, सेवा से जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके जीवन या आचार में व्यक्तिगत और सामाजिक ये भेद हो ही नहीं सकते। यदि हो भी सकें तो व्यक्तिगत आचार की सदोषता क्षम्य नहीं मानी जा सकती, न मानी जानी चाहिए। इसी भ्रमपूर्ण और गलत भावना का यह परि-णाम हम देखते हैं कि आज देश-सेवा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में कितने ही ऐसे लोग मिलते हैं, और मिलेंगे

जिन्हें हम सदाचारी नहीं कह सकते, पर जो बड़े देश-सेवक और साहित्य-सेवक माने जाते हैं, और जिनका जीवन समाज के सामने ग़लत आदर्श उपस्थित कर रहा है और समाज को ग़लत राह दिखा रहा है। हाँ, मैं यह बात मानता हूँ कि समाज को यह उचित है कि सेवक के दुर्गुणों पर ध्यान न दे, दोषों की उपेक्षा करता रहे, दुराचार से अपने को बचाता रहे; पर समाज का यह सौजन्य, यह उदारता, सेवक के आत्म-संतोष का कारण न होनी चाहिए। इससे तो उलटे उसके मन में अधिक शर्म, अधिक ग्लानि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे इस बात पर खुशी न होनी चाहिए, फूलना न चाहिए, फ़ख़ न होना चाहिए कि देखो मैं ऐसा होते हुए भी समाज का प्रीति-पात्र हो रहा हूँ, बल्कि इस ख़याल से उसकी आँखों से अनुताप के आँसू निकलने चाहिए कि समाज कितना सहिष्णु है, कितना उदार है, कितना गुण-ग्राहक है कि मुझ-जैसे पतित और नराधम को भी इतने आदर की दृष्टि से देखता है। तभी उसके कार्यों को समाज-सेवा या साहित्य-सेवा की श्रेणी में स्थान मिलने की सम्भावना हो सकती है। मेरी सम्मति में तो सदाचार-हीन साहित्य-सेवा सेवा नहीं, अ-सेवा है।

---

[८]

साहित्य में शृङ्गार का स्थान

एक बार 'जीवन में शृङ्गार का स्थान' नामक टिप्पणी में शृङ्गार का अर्थ 'सजधज' पढ़-कर और उसी पर मुझे टिप्पणी करते हुए देखकर कोई साहित्य-शास्त्री कहने लगा 'हज़रत, जानते भी हो, साहित्य में शृङ्गार का अर्थ ही कुछ और है। जीवन के जिस शृङ्गार की चर्चा आपने की है उसे तो साहित्य-शास्त्र में अलंकार कहते हैं।' अच्छा साहब, अब साहित्य के शृङ्गार को ही लीजिए।

साहित्य-शास्त्रियों की भाषा को छोड़कर सीधी सुबोध भाषा का आश्रय ग्रहण करें तो शृङ्गार रस का परिचय इस प्रकार दे सकते हैं—स्त्री और पुरुष के प्रेम-रस का नाम शृङ्गार-रस है। दोनों का मन मिल जाने से जो प्रीति उत्पन्न होती है उसे रति कहते हैं और यह रति शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है। अर्थात् शृङ्गार-रस में रति का कभी अभाव

नहीं होता। नायक और नायिका शृङ्गार-रस के अवलंबन होते हैं। या यों कहें कि जिन स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम से शृङ्गार-रस उत्पन्न होता है उन्हें क्रमशः नायिका और नायक कहते हैं। नायिका और नायक के संयोग से जो रस उत्पन्न होता है उसे संयोग या संभोग शृङ्गार और उनके वियोग से जो रस उत्पन्न होता है उसे वियोग शृङ्गार या विप्रलब्ध-शृङ्गार कहते हैं। इसके अंग-उपांग और भेद-प्रभेद यथा नख-शिख आदि के परिचय की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। हमारे प्रयोजन के लिए शृङ्गार-रस की स्थूल कल्पना काफी है और उसके लिए पूर्वोक्त वर्णन बस है। हाँ, इतना और कह देना चाहिए कि शृङ्गार-रस की उत्पत्ति के लिए स्त्री-पुरुषों का पति-पत्नी ही होना आवश्यक नहीं है। किसी भी प्रेमी स्त्री-पुरुषो के संयोग-वियोग-जात सुख-दुःख से उत्पन्न रस को शृङ्गार-रस कह सकते हैं। दूसरे शब्दों मे व्यभिचार के लिए शृङ्गार-रस मे स्थान है और हमारे साहित्याचार्यों एवं काव्यकारो ने गणिकाओ और उपपतियो तक की गणना नायक-नायिका-भेद में की है। जिस काल में ऐसे शृङ्गार-रस को इतना व्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ, भला उस काल का समाज भोग-विलास में कितना निमग्न रहा होगा? यदि आप नख-शिख का एक भी ग्रन्थ देख लें तो आपके सुसंस्कृत मन को ग्लानि उत्पन्न हुए बिना न रहे। और जब आप कितने ही संस्कृत और हिन्दी

कवियों के काव्यों में भारत के आराध्य राधाकृष्ण की अश्लील शृङ्गार-लीलाओं के अनल्प कल्पना-चित्र देखेंगे तो आपके मुँह से ये उद्गार निकले बिना न रहेंगे कि 'राधा-कृष्ण मन में पछता रहे होंगे कि कहाँ हमारा इस देश में जन्म हो गया !' शृङ्गार-रस क्या हुआ, साहित्य-रचना क्या हुई, कवियों को अपनी अश्लीलता और विलासिता को अनियंत्रित उमंग पूरी करने का मैदान मिल गया ! क्या सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन नहीं किया ? तुलसी के रामायण में शृङ्गार नहीं है ? कबीर ने इश्क़ की माला नहीं जपी है ? मीरा प्रेम-दिवानी नहीं हुई है ? पर क्या बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर का शृङ्गार-रस इन भक्त-कवियों के शृङ्गार के चरणों में बैठ सकता है ? 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' 'प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो' 'ऐसी मूढ़ता या मन की' गाने वालों की कक्षा में 'केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहिं । चन्द्र-बदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं' कहकर सिर धुनने वालों को स्थान मिल सकता है ? 'पत्थर को भी रुलाने वाला और वज्र के भी हृदय को द्रवित करनेवाला' * कवि कहाँ और अब तक न सूँघा गया सुमन, किसी के कोमल हाथ से न छुआ गया किसलय, न बींधा गया रत्न, न चक्खा गया नवमधु, अखण्ड पुण्य का मानों फल, यह शकुन्तला ओ विधाता !

* अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ! भवभूति

इसका उपयोग न जाने कौन भाग्यवान् करेगा ? ‡ दुष्यन्त से ऐसा अफसोस कराने वाला कवि कहाँ ?

क्यों तुलसी की रामायण घर-घर पढ़ी जाती है ? सूर और मीरा के भजन चारों ओर गाये जाते हैं ? कबीर की साखियां सब जगह पढ़ी जाती हैं ? ग्रन्थ साहब का पाठ होता है ? और क्यों विहारी, मतिराम, देव, पद्माकर की सूक्तियाँ दफ्तरो में बन्द हैं ? इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम वर्ग ने जीवन को पोषण दिया है, द्वितीय वर्ग ने उसे बहुत-कुछ चीण किया है। एक ने अमृत दिया है, दूसरे ने मद्य। यदि यही बात है तो फिर क्यो हिन्दी मे कहीं-कहीं कुछ शृङ्गारी कवियों के गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोशिश हो रही है ? क्यों शृङ्गार का जुलूस निकालने की तैयारियां हो रही हैं ? केवल ध्वनि, कोरा चमत्कार, रस, या महज़ भाव सत्कवि की कसौटी नहीं है, वल्कि उसकी प्रतिमा से जीवन को पोषण मिला, या दौर्बल्य यही सच्ची कसौटी है। आइए, इसी कसौटी पर हम शृङ्गार-रस को कसें।

शृङ्गार-रस की जो स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है उससे हम इतना तो जान सकते है कि भोगविलास शृङ्गार-रस का

---

‡ अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादित रसम्॥
अखण्ड पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघम्।
न जाने भोक्तारःकमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ कालिदास

प्रधान विषय है। स्त्री और पुरुषों का निर्मल प्रेम भी हो सकता है; परन्तु साहित्याचार्यों के शृङ्गार-रस के विवरण और उनके अनुवर्ती शृङ्गारी कवियों के काव्यों के अवलोकन से हृदय पर यही छाप पड़ती है, यही अनुभव होता है कि शारीरिक, प्राकृत या वैषयिक प्रेम ही शृङ्गार-रस में यदि ओत-प्रोत नहीं तो प्रधान अवश्य है। अच्छा हो यदि हम शृङ्गार-शास्त्रियों के साथ यथोचित न्याय करने के लिए प्रेम को दो भागों में बाँट लें। एक ईश्वरीय प्रेम जिसे भक्ति कहना चाहिए और दूसरा मानुषी प्रेम, जिसे हम विलास कहें। मानुषी प्रेम में अर्थात् मनुष्य के प्रति मनुष्य के प्रेम में भी, फिर वह चाहे स्त्री-पुरुषों में या पुरुषों में परस्पर हो, निर्मलता, निर्दोषता या दैवी भाव हो सकता है, पर वह सद्गुण, सद्वृत्ति और सदाचार से सम्बन्ध रखता है, रूप से या शरीर से नहीं। लोकमान्य को या गाँधीजी को जो स्त्री-पुरुष प्रेम करते हैं वह उनके शरीर या रूप को देखकर नहीं, बल्कि गुण और शील पर मुग्ध होकर करते हैं। यही प्रेम जब और आगे बढ़ता है तब ईश्वरीय रूप धारण कर लेता है। अतएव इसे विलास के अन्तर्गत नहीं, भक्ति के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। इस प्रेम या ऐसे शृङ्गार के साथ मेरा कोई झगड़ा नहीं। मेरा आक्षेप है शारीरिक, रूप-विषयक, अथवा वैषयिक प्रेम या शृंगार से। जिस प्रेम या शृङ्गार के कारण मनुष्य के अन्दर विषय-विलास के भाव

और काम-लिप्सा उत्पन्न, जाग्रत, या उद्दीप्त होती है उसीसे मेरा झगड़ा है। मेरा दावा है और वह दुनिया के इस अनुभव पर स्थित है कि विषय-विलास और काम-लिप्सा जीवन को कभी किसी भी अंश में पोषण प्रदान नहीं करती, उलटा हततेज और क्षीणवीर्य बनाती है। मैं समझता हूँ कि यह ऐसी अनुभव-सिद्ध बात है कि इसको प्रमाणों या उदाहरणों के द्वारा साबित करने का प्रयत्न करना जन-समाज की बुद्धि और अनुभव की अवहेलना करना है। हाँ, जीवन में शारीरिक प्रेम के लिए भी स्थान है। क्योंकि हम देखते है कि मनुष्य के हृदय में एक अवस्था में शारीरिक प्रेम का एक कोमल विकार उत्पन्न होता है और एक अवस्था तक रहता है। उस समय एक सहयोगी की—स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के सहवास की आवश्यकता होती है और परस्पर आकर्षण भी होता है। संस्कार और भावना के अनुसार कुछ लोग शारीरिक प्रेम के लिए परस्पर आकर्षित होते हैं, कुछ लोग मित्र-भाव से। पर प्रथम श्रेणी के लोग ही अब तक संसार में अधिक पाये जाते हैं। बहुधा लोग इस विकार को प्रकृति का धर्म मानते है और इसलिए जबतक वह विकार जाग्रत रहता है उसकी तृप्ति करने में वे हानि नहीं समझते। उसे वे प्रकृति की आज्ञा का पालन मात्र मानते हैं। इससे आगे बढ़कर कुछ लोग हर प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकार को प्रकृति का धर्म मानने

लगते हैं। और उसको पालन करने के लिए समाज, नीति या धर्म की मर्यादा को तोड़ने में वे बुराई नहीं समझते। ये लोग सामान्यतः विवाह-व्यवस्था को अनावश्यक मानते हैं। निरंकुश प्रेमाचार—विषय-भोग—यदि उनके जीवन का लक्ष्य नहीं तो वस्तुस्थिति ज़रूर हो जाती है। यदि इस विचार-धारणा को निर्दोष मानें तो फिर जीवन में सु-संस्कार का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। मनुष्य क्या है? पशु का सुसंस्कृत संस्करण ही है। जिस दरजे तक वह उच्च-संस्कारों से विभूषित होगा। उसी दरजे तक वह पशु से ऊँचा रहेगा। नीति और सदाचार संस्कार का मूल है। संस्कार करने के मानी हैं नीति और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा देना। नीति और सदाचार-सम्बन्धी मनुष्य की धारणायें उसके मानसिक और आत्मिक उत्कर्ष के अनुरूप हुआ करती हैं। जिसकी नीति-धर्म सम्बन्धी धारणायें जितनी ही उच्च, उदात्त, पवित्र और स्वार्थ-भाव-शून्य होती हैं उतना ही वह उन्नत और सुसंस्कृत माना जाता है। यदि हम मनुष्य-जाति की आदिम अवस्था से लेकर आजतक उसके जीवन के विकास-क्रम पर दृष्टि डालें तो हम एक परिणाम पर पहुँचते हैं। वह यह कि मनुष्य की गति स्वेच्छाचार से संयम की ओर, स्वार्थ से त्याग की ओर है और जिस अपने जीवन में त्याग और संयम को जितना ही अधिक स्थान दिया है उतना ही अधिक उसकी

जड़ मज़बूत हुई है और उतनी ही अधिक उच्च संस्कृति उसकी मानी गई है। इसका सार यह निकलता है कि मनुष्य जितना ही अपने मनोवेगों को रोकेगा, उनकी बागडोर अपने हाथों में रक्खेगा, उतना ही वह ऊँचा मनुष्य होगा, सच्चा मनुष्य होगा, और जो मनुष्य जितना ही अपने मनोविकारों का दास होगा उतना ही वह पशुत्व की ओर बढ़ेगा। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनोवेग और मनोविकार को प्रकृति का धर्म मानकर निरंकुश जीवन व्यतीत करना—शारीरिक प्रेम और उपभोग में फँसे रहना, पशुता का ही अनुसरण करना है। इसी कारण मनुष्य ने अपनी गति को उर्ध्वगामी बनाने के हेतु विवाह-संस्कार के रूप में निरंकुश प्रेमाचार की एक मर्यादा बाँध दी और इतना ही नहीं, उसने एक ही पुरुष के साथ एक ही स्त्री का जीवन व्यतीत करना मनुष्य का एक आदर्श निर्माण कर दिया और इससे भी आगे बढ़कर शारीरिक सहवास के भी नियम निश्चित कर दिये और पर-स्त्री का चिन्तन करना, उसे अनुराग की दृष्टि से देखना तक पाप ठहरा दिया। ऐसी अवस्था में पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि शारीरिक प्रेम अर्थात् शृङ्गार के लिए जीवन में और इसलिए साहित्य में कितना कम स्थान है और जो है वह भी बतौर आपद्धर्म के है। ज्यों-ज्यों मनुष्य-जाति अपने मनोविकारों पर अपना प्रभुत्व करती जायगी त्यों-त्यों शृङ्गार-

रस का, वैषयिक प्रेम का स्थान जीवन में कम ही कम होता जायगा।

जब यह बात है तब प्राचीन साहित्याचार्यों की शृङ्गार-व्यवस्था की दुहाई देना कहाँ तक अनुमोदनीय है? उनका अनुसरण करके, उनके शृङ्गार-साहित्य का जीर्णोद्धार करके हम समाज को कौन-सी शिक्षा देंगे, कौन-सा हित-साधन करेंगे? शृङ्गार-रस की अभिवृद्धि से न हमारे जीवन को पोषण-रस मिल सकता है, न सुसंस्कार। फिर इस अनर्थ-व्यापार से हमें पराङ्-मुख क्यों न होना चाहिए और क्यों न साहित्य के सु-संस्कृत और सुसंस्कर्ता कर्णधारों की लेखनी जो दो-चार साल से विश्राम कर रही है, इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ उठनी चाहिए? क्या एक आर्त्त की पुकार—जिसमें अनेक आर्त्तों की मौन पुकार सम्मिलत है—उनके दरबार तक पहुँचेगी?

मेरे हृदय-देव !

[१]

मेरे हृदय-देव!

सन् १९१६ के दिसम्बर की बात है। लखनऊ कुछ दिनों तक राष्ट्र-भक्तों के लिए तीर्थस्थान हो गया था। महासभा के निमित्त देश के सब दलों के नेता एकत्र हुए थे। मैंने अपने जीवन में पहली बार उस दृश्य को देखा था। उन दिनों मुझे कोई स्वर्ग में भी ले जाना चाहता तो मैं इनकार कर देता। बरसों के बाद लोकमान्य तिलक महासभा में पधारे थे। दर्शन करनेवालों की भीषण भीड़ से परमेश्वर ही उनकी रक्षा करता था। लोकमान्य देश के और मेरे भी हृदय-सम्राट थे। उनके चरणस्पर्श करके मैंने अपना जीवन सार्थक किया। वह पवित्र स्मृति आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

महात्मा गाँधी उन दिनों कर्म्मवीर गांधी कहलाते थे। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह ने देश का ध्यान उनकी ओर खींच दिया था। भारत की सेवा करने के इरादे से वे

यहाँ आ चुके थे। उनके दर्शन की लालसा से मैंने कई जगह धक्के खाये और जहाँ सुनता कि फलाँ जगह गांधीजी आने वाले हैं वही दड़ा जाता। कई मील दौड़-धूप करने के बाद आखिर दूर हिंदू-सभा के मण्डप में उनके दर्शन हुए। उनके प्रथम ही दर्शन ने मेरा हृदय खींच लिया। नाटा कद, दुबला शरीर, सीधा-भोला दिखाई देने वाला चेहरा, तेजस्वी आंखें मेरे नेत्रों में सदा के लिए खिच गईं। सिरपर काठियाड़ी सफेद साफा या पगड़ी, बदन में अंगरखा, कन्धे पर दुपट्टा, कमर में धोती और नंगे पांव-वाली यह साधु-मूर्ति आज भी मेरी आंखों में अवतक नाचा करती है। हिंदू-सभा में और पीछे से महासभा के अधिवेशन में जो उनके दस-पांच चुने हुए वाक्य मेरे कानों में पड़े और जिस गम्भीरता और शान्ति के साथ उनके मुँह से प्रकट हुए उससे उनके आत्मतेज और आत्मविश्वास का सिक्का मेरे हृदय पर जम गया। तबसे 'लोकमान्य के साथ-साथ 'कर्मवीर' ने भी मेरे हृदय के एक कोने पर अधिकार कर लिया।

× × ×

इसके बाद ही महात्माजी ने चम्पारन में अपने काम का श्रीगणेश किया। भारत के राष्ट्रीय इतिहास में शायद पहली ही बार एक भारतीय वीर ने सरकारी आज्ञा का सविनय निरादर किया और सरकार को अपनी आज्ञा

वापस लेनी पड़ी। निलहे गोरों के अत्याचारों से बिहार की प्रजा को बचाने के उद्देश से महात्माजी के प्रयत्न के फल-स्वरूप कमीशन की स्थापना हो चुकी थी और महात्मा जी किसी जरूरी काम से पंजाब मेल के द्वारा देहली होते हुए गुजरात जा रहे थे। मैं जुही-कानपुर में रहता था, खबर पाते ही स्टेशन पर दौड़ा गया। सेकंड क्लास के एक दरवाजे के ऊपर एक नंगे सिर और नंगे पैर वाली मूर्ति को देखा। बदन में एक मोटा कुरता, कमर में मोटी छोटी धोती। उस समय उनके चेहरे पर जो निश्चय और तपस्या का तेज दिखाई दिया वही दर्शकों के लिए चम्पारन के उज्ज्वल भविष्य का काफ़ी सूचक था। फिर शब्दों द्वारा जब उन्होंने अपना कठोर निश्चय प्रकट किया कि निलहों के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा होगी या ये हड्डियाँ चम्पारन में रह जायंगी तब तो मेरी आँखों में आँसू भर आये। इतने निर्भय और निःशंक वचन अपने कानों से सुनने का वह पहला ही अवसर मुझे था।

कुछ ही देर में टिकट-कलेक्टर टिकट देखने आया। गांधीजी ने अपने कुरते की जेब में हाथ डाला। लटकती हुई जेब सूत की एक महीन डोरी से बंधी हुई थी। यही शायद उनका 'मनीबैग' था। उसमें से जब उन्होंने टिकट निकाल कर दिया तब टिकटबाबू भी एक देहाती आदमी को सेकंड क्लास में सवार देख उनका मुँह ताकने लगा।

दर्शकों के चेहरे विस्मय और सादगी के प्रभाव से खिल उठे।

इस प्रकार लखनऊ में 'कर्म्मवीर' के नाम से प्रसिद्ध और कानपुर मे प्रत्यक्ष 'दृढ़व्रत' गांधी के दर्शन करके हृदय ने मन ही मन अपनी श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि उनके चरणों पर चढ़ाई।

× × ×

१९१८ की फ़रवरी में इन्दौर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन होने वाला था। 'मालवा' मेरी जन्मभूमि और हिन्दी मेरी मातृ-भाषा। महात्माजी के पुनर्दर्शन की अभिलाषा और सुयोग। मेरे घर में सम्मेलन का आयोजन हो और मैं मेहमान बनकर जाऊँ! इस विचार से मुझे मन ही मन शर्म मालूम हुआ करती थी। पर कौटुम्बिक तथा दूसरी आपदाओं का पहाड़ मेरे सिरपर खड़ा था। आख़िर ऐन समय पर जा पहुँचा, इसी को मैंने अपना बड़ा भाग्य माना। इस बीच महात्माजी 'महात्मा गांधी' हो गये थे। खेड़ा ज़िले के सत्याग्रह की ओर सारे देश की आँखें लग रही थीं। वे धीरे-धीरे विविध प्रकार से अपने पराक्रम और पुरुषार्थ का लगातार परिचय देते जाते थे। इधर मैं भी कुछ अंश मे सांसारिक विपदाओ और कुछ अंश में राष्ट्र—कर्त्तव्य की प्रेरणा से कौटुम्बिक कर्त्तव्यों से धीरे-धीरे उदासीन होता हुआ

महात्माजी की ओर अधिकाधिक खिंचता जाता था। इन्दौर में मैंने जिस रूप में महात्माजी का दर्शन किया वह मेरे लिए एकदम नवीन था।

महात्मजी खासे क़ैदी बने हुए थे। उनका यही पहनाव आज भारत का राष्ट्रीय पहनावा हो गया है। चेहरा शरीर की दुर्बलता की गवाही दे रहा था। पर उत्साह और तेज-तर्रारी देख कर लोग दंग रह जाते थे। खेड़ा के सत्याग्रह का काम अधूरा छोड़ कर वह इन्दौर आये थे। उनकी बदौलत वह सम्मेलन अजरामर हो गया। सम्मेलन के अधिवेशन, विषय-निर्वाचिनी समिति, सार्वजनिक भाषण, तथा इतर कार्यों में दिन-रात व्यस्त रहते हुए भी उनके शरीर और दिमाग़ को थकते हुए किसी ने न देखा। विषय-निर्वाचिनी समिति में जब मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में विचार हो रहा था तब मैंने देखा कि महात्माजी। की आकलन शक्ति अद्भुत् है। थोड़े ही शब्दों और हाव-भाव से मन का आशय समझने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। बड़े-बड़े विद्वान् कार्यकर्ता और पदवीधर लोग वहाँ उपस्थित थे। पर ऐसा मालूम होता था कि सब महात्माजी के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए झेंपते या सकुचाते थे। और महात्माजी मानों किसी अन्तर्यामी की तरह एक दृष्टिपात में उनके हृदय का भाव समझ कर नीचे देखने लगजाते थे। उस समय उनकी दृष्टि में जो भेदकता

मैंने देखी उसने मुझे उनके महापुरुष होने के विषय में निश्चय करा दिया। और अन्तिम दिन उन्होंने जो उपसंहारात्मक भाषण किया उसने तो सारे उपस्थित जनो का मन हर लिया और प्रायः प्रत्येक के घट में उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो गई।

अब मैं महात्माजी के भाषण आदि बड़े चाव से पढ़ने लगा और उनके कार्यों और गतिविधि का अध्ययन-मनन भी करने लगा। रौलट-ऐक्ट के आन्दोलन ने महात्माजी को भारतीय राजनीति के बीच मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। लोकमान्य की मृत्यु के बाद तो महात्माजी ही देश के एकमात्र नेता रह गये। लोकमान्य का स्थूल शरीर यद्यपि आज दुनिया में नहीं है तथापि उनकी आत्मा का तेज तो आज भी मुझे महात्माजी की आत्मा में प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। अतएव तबसे महात्माजी मेरे लिए दोहरे पूज्य और वन्दनीय हो गये। अमृतसर की महासभा के तिलक-गांधी मतभेद ने और पीछे से कलकत्ता-कांग्रेस के असहयोग प्रस्ताव-सम्बन्धी वादविवाद ने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' तथा 'शठं प्रत्यपि सत्यम्' दोनो सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन को ओर मेरा ध्यान खीचा। पहले मै भी 'हन्ते को हनिए, पाप दोष न गनिए' के न्याय का क़ायल था, लेकिन विचार, मनन और अध्ययन ने मुझे—

"अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुनाजयेत्;
जयेत् कदर्यं दानेन सत्येन अनृतञ्जयेत्"।

की सत्यता, नित्यता, उच्चता, अजेयता और सात्विकता का क़ायल कर दिया। आज अपने को 'सत्याग्रही' कहने और मानने में मुझे बड़े गौरव और भारतीयता का अनुभव होता है।

× × ×

'हिन्दी-नवजीवन' निकालने के सम्बन्ध में जून १९२१ के अन्त में मैं बम्बई गया। महात्माजी और सेठ जमनालालजी बजाज के ही द्वारा उसके सफल होने की आशा थी। इस बार मुझे महात्माजी के जीवन के अध्ययन का प्रत्यक्ष मौक़ा मिला। तब से आजतक उनकी, उनके आदर्श की और उसके द्वारा भारतवर्ष और सारे संसार की थोड़ी-बहुत सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। बम्बई में मैं जिस दिन 'मणि भवन' में दर्शन के लिए गया, महात्माजी बम्बई के कितने ही नगर-सेठों के साथ विदेशी कपड़े के बहिष्कार के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। तिलक-स्वराज्य कोष सम्बन्धी उनकी विजय ने प्रतिपक्षियों को भी चकित कर दिया था। इधर महात्माजी तो स्वराज्य का क़िला सर करने के लिए एक के बाद दूसरा कदम धड़ाके से आगे बढ़ा रहे थे। इंग्लैंड से आये हुए एक साहब, एक मेम और एक गुजराती साहब, मेरी तरह, महात्माजी के दर्शन

के लिए उत्सुक बैठे थे। कोई दो घंटे बाद महात्माजी चर्चा खतम करके बाहर आये। रात के ९ बज गये थे। शहर के भिन्न-भिन्न विभागो में कोई तीन-चार सभायें होने वाली थी। सब में महात्माजी को पधारना था। टेलीफोन की घंटी बार-बार टन् टन् करती थी और यहाँ से जवाब जाता था—ज़रा ठहरो, काम खतम करके आते ही है। बाहर आते ही महात्माजी ने कुरता और टोपी माँगी। इधर खड़े ही खड़े उन साहब मेम से बातें होने लगी। गुजराती साहब ने कहा—'आपको याद होगा, जब आप लन्दन में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे तब सर मंचरजी भावनगरी के सभापतित्व मे आपका एक भाषण हुआ था। उसमे आपने यह प्रतिपादन किया था कि इंग्लैंड में रहने वाले गुजरातियो को यहाँ गुजराती में नही अंग्रेजी मे ही अपना काम-काज करना चाहिए। उस सभा का मंत्री मै ही था।' इस पर गांधीजी ने आश्चर्य-भरी आंखो से हँसते हुए उनकी ओर देखा और पूछा—'क्या यह कहा था कि अंग्रेज़ी में ही काम-काज करना चाहिए?' गुजराती साहब ने निःसङ्कोच भाव से कहा—'जी हाँ'। फिर गांधीजी ने पूछा—'क्या अंग्रेज़ी में ही?' उत्तर मिला 'जी, हाँ।' तब महात्माजी ने खिल-खिलाकर हँसते हुए निश्चय के स्वर में कहा—तो फिर वह कोई दूसरा गाधी होगा। मैंने तो ज़िन्दगी मे किसी गुजराती को यह सलाह नही दी कि

अपनी भाषा छोड़ कर अंग्रेज़ी में अपना काम-काज करो।
हाँ, एक सभा की बात मुझे ख़ूब याद है। लेकिन उसमें
मैंने गुजराती में ही काम-काज करने के लिए कहा था।'
सुनते ही गुजराती साहब अपनी भूल समझ गये। और
और लजाते हुए कहा—'जी हाँ, आप बहुत ठीक कहते हैं।
गुजराती की जगह अंग्रेज़ी मेरे मुँह से बराबर निकलता
गया। माफ़ कीजिएगा।' उस दिन रात को कोई दो बजे
तक सभाओं में महात्माजी को भाषण आदि देने पड़े। रोज़
सुबह से रात के १०—११ बजे तक दर्शन करने वालों,
शंका समाधान करने वालों, सलाह लेने वालों, प्रचार करने
वालों आदि तरह-तरह के कार्यकर्ताओं का जमघट लगा
रहता था। सब से बराबर शान्ति और गम्भीरता के साथ
महात्माजी बात-चीत करते, समझाते और राह बताते।
सितम्बर तक बहिष्कार का कार्यक्रम पूरा करने का भार
सिरपर था। दिसम्बर तक स्वराज्य स्थापित करने की
तैयारी हो रही थी। पर जब-जब मैं दर्शन के लिए गया
कभी उदास, उद्विग्न या शंकित चित्त नहीं देखा। 'यङ्ग-
इण्डिया' और 'नवजीवन' का मैटर बराबर मङ्गलवार और
गुरुवार तक भेज दिया जाता था। अपने लेख और टिप्प-
णियाँ महात्माजी खुद लिखते थे। कितनी ही चिट्ठियों के
जवाब भी खुद ही देते थे। इस अवसर मर मुझे महा-
त्माजी की कार्यक्षमता, कार्य-तत्परता, व्यवहार-कुशलता

और मोहिनीशक्ति का जो अनुभव हुआ वह बराबर बढ़ता ही गया। जुलाई के अन्त में महासमिति की बैठक बम्बई में हुई। पहली अगस्त को विदेशी कपड़ो की होली का मंगलाचरण होने वाला था। युवराज के स्वागत-बहिष्कार, सितम्बर तक विदेशी कपड़ो का बहिष्कार, ये दो विषय प्रधान-रूप से लोगो की ज़बान पर थे। प्रत्येक प्रान्त के सब नेता और प्रसिद्ध कार्यकर्ता उपस्थित हुए थे। खादी के पहनाव में पहली महासमिति की बैठक वही थी। लालाजी से लेकर पं० मोतीलालजी और श्रीयुत केलकर तक के सिर पर खादी टोपी और देशबन्धु विजयराघवाचार्य से लेकर प्रायः सब छोटे-बड़ो के बदन पर खादी देखकर मेरी आँखों मे हर्ष के मारे आँसू छलछला आते। जब मै बम्बई पहुँचा था उन दिनों इक्के-दुक्के के सिरपर वहाँ गाँधी-टोपी दिखाई देती थी। पर एक ही महीने में एक अगस्त तक वहाँ लाखों लोगो के सिर पर खादी टोपी चमकने लगी। जिस दिव्य शक्ति का यह प्रभाव था उसपर मैं मन ही मन मुग्ध और न्यौछावर हुआ जाता था।

महा-समिति मे जब कोई सदस्य महात्माजी के प्रतिकूल बोलने के लिए खड़ा होता तब उसकी निर्भयता और साहस को देखकर उनका चेहरा खिल उठता, और जब कोई व्यावहारिक दृष्टि को आगे बढ़ाकर उनके तत्वज्ञान और आदर्शवाद की वृत्ति पर कटाक्ष करता था तब तो वे

खिलखिलाकर हँस पड़ते थे। पर जब कोई उनके पक्ष में बोलने के लिए उठता तब मानो संकोच से उनका चेहरा गम्भीर हो जाता। उनकी हँसी मुझे प्रतिपक्षी के हृदय पर क़ब्ज़ा करनेवाली दिखाई देती। उनकी गंभीरता में मैं अपनी बहुमति का विश्वास और निश्चय देखता। उनके मौन में मुझे प्रतिपक्षी के प्रति दया भाव और कभी उसकी भूलों पर उपेक्षा भाव मालूम होता। उनके प्रत्येक अंग-विक्षेप को मैं अर्थहीन नहीं पाता था। जब नीची निगाह करके वे विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देने लगते तब ऐसा मालूम होता मानों तूफ़ानी समुद्र में से कोई होशियार कप्तान अपने बेड़े को खूबसूरती और सावधानी के साथ, परन्तु निश्चित-रूप, से लक्ष्य की ओर बढ़ाये लेजा रहा है। कभी-कभी कोई बड़े ज़ोर के साथ कटाक्ष-बाण फेंकता, पर वह वहाँ जाकर फूल हो जाता। शिष्टता, नम्रता और कुशलता के साथ उनके व्यवहार में ऐसी दुर्दमनीयता और प्रबल वेग दिखाई देता था कि वह सबको बरबस अपनी दिशा में खींच ले जाता था। वाक्चातुर्य और समय-सूचकता का परिचय उनकी प्रत्येक बात से मिलता था। उनका विनोद भी सारहीन नहीं, उलटा सूचक और प्रेरक होता था।

× × ×

अहमदाबाद में जब-जब मैं उनके दर्शन के लिए जाता तब-तब मैं उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में देखता—कभी नेता, कभी राजनीतिज्ञ, कभी सेनापति, कभी लेखक, कभी सम्पा-

दरू, कभी पिता, कभी महात्मा और कभी सूतकार दिखाई देते। उनकी आत्मा में मै भारत की आत्मा को छिपी हुई देखता। कौपीनधारी महात्मा मुझे भारतीय किसानो और मजदूरों के प्रतिनिधि, चरखा कातने वाले महात्मा दीन दुर्बल लोगों के अवलम्ब, पेन्सिल से 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के लिए लेख लिखने वाले महात्मा भारत की संस्कृति के नेता और प्रचारक और अपनी जाँघ पर से साँप को निकल जाने देने वाले महात्मा मुझे दया-धर्म के अवतार नजर आते। मनु और लक्ष्मी के साथ किलोलें करते हुए महात्माजी मुझे वत्सल पिता, कार्यकर्ताओं को इधर-उधर तैनात करते हुए महात्माजी सेनापति दिखाई देते। किसी शंकाकर्त्ता से भवें चढ़ा कर मुसकराते हुए हँस-हँस कर बात करने वाले महात्माजी मुझे 'गुरुदेव' देख पड़ते और मै मन ही मन कहता—

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

अहमदाबाद की महासभा के समय महात्माजी को जितना निश्चिन्त, प्रसन्न और प्रफुल्ल देखा उतना पहले कभी नही देखा था यद्यपि उस समय की स्थिति ऐसी चित्तवृत्ति के ठीक उलटी दिखाई देती थी। वीरो का यह स्वभाव ही होता है कि जब प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना होता है तब उनके हृदय में अधिक उत्साह और वीरता का सं-

चार हो आता है। इसी तरह साबरमती जेल में भी उन्हें मैंने प्रसन्न और निःशंक देखा।

× × ×

कुछ लोग महात्माजी को व्यवहार-दृष्टि हीन और एकांगी मानते हैं। पर मेरा यह ख़याल है कि जिन्होंने उनके एक ही अंग को देखा है वे और क्या कह सकते हैं? भिन्न-भिन्न विचार, आचार, और स्वभाववाले छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े लोगों को एक दिशा में कार्य करने के लिए प्रवृत्त कर देने वाले और फिर भी किसी के प्रभाव से प्रभावान्वित न होने वाले व्यक्ति को व्यवहार-दृष्टि-हीन कहना धृष्टता है। हाँ, उनकी व्यवहारकुशलता आदर्शमय है। जिसकी कुशलता ने देश में खुफ़िया पुलिस को बेकार कर दिया, हज़ारों षड्यन्त्रकारी लोगों को खुले मैदान काम करने का रास्ता दिखाया, मुसलमानों और हिन्दुओं का एका बढ़ाया, मुसलमानों पर गौ की रक्षा और हिन्दुओं पर ख़िलाफ़त की रक्षा और दोनों पर स्वराज्य की प्राप्ति का भार लाकर रख दिया, उसे कौशलहीन कहना मुझे तो अपने अज्ञान का परिचय देना ही मालूम होता है।

× × ×

महात्माजी के पास मैंने गुप्त अथवा खानगी बात कोई नहीं देखी। उनका दीवानख़ाना हरवक़्त हर शख़्स के लिए खुला रहता था। हाँ, दूसरे की खानगी और गुप्त बातों को

वे अवश्य हिफाज़त से रखते थे। और यह सर्वथा उचित भी है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि किसी को कोई ख़ानगी बात उनसे करनी होती तो उन्हें दूसरे कमरे में जाकर बात करनी पड़ती। उनके साथ के प्रत्येक व्यक्ति के साथ मैंने उनका व्यवहार ऐसा प्रेममय और निर्दोष देखा कि हरएक को यही मालूम होता कि महात्माजी सबसे अधिक प्रेम मुझ पर ही करते है। उनका सांसारिक जीवन मुझे जल मे कमल की तरह दिखाई देता।

× × ×

आज वे अपने तप के द्वारा बुद्ध, महावीर और ईसा-मसीह का मानो संशोधित संस्करण ही अपने को साबित कर रहे हैं। वे अबतक के पैगम्बरो और अवतारो के गुणों से युक्त और त्रुटियों से हीन मालूम होते हैं। सत्यदर्शन अथवा आत्मप्राप्ति में निरंतर प्रगतिमान् है उनके विकास की सुगन्ध से वायुमण्डल ओत-प्रोत हो रहा है। परमात्मा हम भारतवासियों को वे आँखें दें जिससे हम उनकी दिव्यता को देख सकें और उनके विश्व की संपत्ति बनने के क्रम में हमें अपना उद्धार कर लेने की बुद्धि उपजे।

---

[२]

उनकी महिमा

'हिन्दी नवजीवन' के दो-तीन महीने बाद मेरे मित्र बाबू सम्पूर्णानन्द ने मुझे लिखा कि 'मर्यादा' के लिए आप महात्माजी के सम्बन्ध में अपने विचार और अनुभव लिखकर भेज दीजिए। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ मानों मेरे सिरपर किसी ने पहाड़ लाकर रख दिया, या यह प्रेम-कठोर आज्ञा दी कि किसी महासागर को तैर कर पार हो जाओ। सुदैव से थोड़े ही दिनों के बाद बाबू साहब को संयुक्तप्रान्त की सरकार ने अपना महमान बनाकर मेरी चिन्ता दूर कर दी। पर जेल से छूटते ही फिर उन्होंने मेरे सामने वही समस्या खड़ी कर दी। मैंने ज्यों-त्यों करके एक लेख लिखा—'मेरे हृदय-देव'। यह एक ही शब्द इस बात को बतलाने के लिए काफी है कि पू० बापूजी के नजदीक मैंने अपने लिए कौन-सा स्थान तजवीज किया है। एक ओर 'अन्ध श्रद्धा' और

दूसरी ओर 'अन्ध अश्रद्धा' के इस आक्षेप-काल में मेरी स्थिति पर यदि कुछ मित्र आपत्ति करें, मेरे प्रति दया दिखावें, तो आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि ईश्वर, भक्ति, श्रद्धा, धर्म, अध्यात्म आदि प्राचीन शब्दों पर, अपने तपस्वी पूर्वजों के परिश्रम फल पर कटाक्ष करने का, उनके उपहास करने का मार्ग कुछ लोगों ने अपने लिए निष्कंटक मान लिया है। वे लोग यह समझते हैं कि श्रद्धा और बुद्धि की शत्रुता है, और अपने को बुद्धिमानों की श्रेणी में मानने के कारण बुद्धि का अपमान या तिरस्कार किये विना वे श्रद्धावान् नहीं हो सकते। मै बुद्धिमान् होने का दावा नहीं कर सकता। मुझे तो 'सेवक' कहलाने में अपना जीवन सार्थक मालूम होता है। और जब मैं देखता हूँ कि एक ओर स्व० देशबन्धुदास, कार्य-कुशल स्व० लालाजी, त्याग-मूर्ति स्व० नेहरूजी, व्यवहार-बुद्धि केलकर-जैसे गरम राजनीति-वीर और भारत-भूषण मालवीयजी, माननीय शास्त्रीजी जैसे मधुर और नम्र राजनीति-प्रिय तथा दूसरी ओर कवि-सम्राट् रवीन्द्र, विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय-जैसे स्वदेशी नर-रत्न और होरस, रोम्याँ, रोलाँ सनयातसेन, वाल्स, एण्डरूज आदि विदेशी गुण-ग्राहकों की बुद्धि जिसकी राज-नीति-निपुणता, असामान्य देशभक्ति, सच्चाई, पवित्रता, तपस्या और माहात्म्य का लोहा मानती है और जिह्वा मुक्त-कंठ से कहती है कि महात्मा गाँधी उन उज्ज्वल आत्माओं

यों से है जो हजारों बरसों में कभी-कभी संसार में अवतीर्ण होती है; जब उन्हें आज सारी दुनिया में अनेकांश में उनकी टक्कर का महापुरुष दूसरा नहीं दिखाई देता तब पाठकों को, यदि मुझ-जैसा मामूली प्राणी उसे अपने हृदय का देव मान कर उसकी पूजा करे; उनका अनुयायी होने का प्रयत्न करे, उसके दर्शन से अपनी आत्मा को सजीव, उपदेश से उच्च और सत्संग से पवित्र होती हुई माने तो क्या आपको इस पर आश्चर्य होगा? और जब मैं अपनी आँखों से देखता हूँ कि अनेक वाद-ग्रस्त विषयों और लड़ाइयों में रत रहते हुए भी उस पवित्र आत्मा का आज सारे भूमण्डल में एक भी शत्रु नहीं है। जिसके तनिक ही सहवास और प्रयास से मैंने शराबियों को शराब छोड़ते हुए, व्यभिचारियों को पातिव्रत की रक्षा करते हुए, चोरों, डाकुओं, और कुचालियों को सज्जन बनते हुए देखा; जिसके प्रोत्साहन से कायरों को वीरता के साथ हँसते हुए, कष्ट-सहन करते हुए देखा है, दुर्व्यसनों में लिप्त, भोग-विलास में चूर, धन-यौवन के गुलाम लोगों को धार्मिक और पवित्र होते हुए देखा है; नास्तिकों को आस्तिक, हिंसावादियों को अहिंसा-व्रती, निराशा-वादियों को आशावादी, फैशनेबल लोगों को सीधा-सादा रहन-सहन-प्रिय होते हुए देखा है; जिसको मैं मामूली आदमियों में से नेताओं को निर्माण करते हुए देख

रहा हूँ; विरोधी भावों, मतों और जातियों को एकता के सूत्र में बाँधते हुए—उनका सामञ्जस्य करते हुए देखता हूँ; एक गिरी हुई जाति को मनुष्यत्व के पद पर ऊँची उठाते हुए देखता हूँ, तब मैं उसकी मूर्ति को अपने हृदय में रक्खूँ तो कौनसी बुराई है ? जब मैं देखता हूँ कि वह वीर की तरह अन्यायो, अत्याचारो और पापो तथा उनके हिमायतियो से खम ठोंक कर जी-जान से लड़ता है और आप हमको लड़ाता है और दूसरी ओर एक माता की तरह उन अज्ञ, अज्ञान, रोगी भाइयों पर प्रेम की वर्षा करता है, हमें प्रेम का पाठ पढ़ाता है और इस सेवा के पारितोषिक-रूप ज़ालिमों के जेलखानों को पवित्र बनाता हुआ दो हज़ार वर्ष पहले ईसा का स्थान प्राप्त करता है तब यदि मैं उसे भावी सन्तति का राम-कृष्ण मानूँ तो क्या बेजा है ? बुद्ध और ईसा-मसीह तो लोग उसे आज भी मानने की तैयारी कर रहे हैं !

पूज्य बापूजी मेरे ही हृदय-देव नही, सच पूछिए तो ३३ करोड़ भारतवासियों के हृदय-देव हैं। कौन ऐसा भारतीय हृदय है जहाँ उनके लिए स्थान नहीं, जिसे उन्होंने अपना घर न समझा हो ? भारत की राज्य-लक्ष्मी चली गई; उन्होंने उसे आज़ादी का स्वाद चखाया, स्वराज्य का राज्य-मार्ग दिखाया; भारत फ़ाक़ाकशी की नुमाइश हो रहा था, उन्होने उसे खादी पर फ़िदा होने की नसीहत दी।

भारत विदेशी सभ्यता का गुलाम होकर भारतीयता की जड़ काट रहा था, अपनी बपौती को पश्चिमी महासागर में डुबो रहा था, उन्होंने उसे स्वाभिमान, स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया, सच्चे स्वदेशी-धर्म की दीक्षा दी। पशुबल के अधीन भारत पशुबल को आदर्श मानकर पशुत्व की ओर क़दम बढ़ा रहा था, उन्होंने अहिंसा के उपदेश के द्वारा उसे मानव-बल देकर उसे मनुष्यता की ओर फेरा। भारत नास्तिकता के रंग से रंगा हुआ निराशा के मूर्च्छा-विष को पी रहा था। उन्होंने धर्म की महिमा की प्रतिष्ठा कर आशावाद का सन्देश उसे सुनाया। भारत फूटभेद-अस्पृश्यता के रोगों से जकड़ा हुआ था, उन्होंने उसे एकता और समता की दिव्य रसायन दी। भारत भय असत्य, कायरता का शिकार हो रहा था, उन्होंने उसे निर्भयता, सत्य और वीरता के शस्त्रास्त्र प्रदान किये।

कौन कह सकता है कि महात्मा गाँधी भारत के लिए ईश्वरीय वरदान-रूप नहीं हैं, प्रसाद-रूप नहीं हैं, देव-दूत नहीं हैं?

---

[३]

पराजय का वीर

पराजय ! तू किस बुरी घड़ी में पैदा हुआ ! इतिहास तेरा गर्व नहीं करता, कवि तुझ पर न्यौछावर नही होते, राजा तेरी ओर आँख उठा कर नहीं देखते, कोष तेरा गुण-गान नही करते, विद्वान् तुझपर-लट्टू नहीं होते, सर्वसाधारण तुझे हेय दृष्टि से देखते हैं, तुझे पतित-नीच-निकम्मा समझते हैं। दुनिया में कौन ऐसा है, जो तेरा मुँह देखना चाहता हो ?

दुनिया समझदारो की बपौती नहीं, उसमें पागल भी हैं, मतवाले भी हैं। दुनिया जय को पूजती है, ये पागल पराजय को पूजते हैं। दुनिया जय-जयकार में मस्त है, ये पराजय के गीत गाते है। इतिहास जय को पहचानता है, जय के वीरों को अमर बनाने की कोशिश करता है; ये पगले पराजय को खोजते हैं, पराजय के वीर को अपने हृदय की मूर्ति बनाकर उसके चरण चूमते हैं।

संसार क्या है ? संसार का विकास क्या है ? जय और पराजय, जय का बोलबाला, पराजय का मुँह काला। जय हमें इतना प्रिय क्यों है ? पराजय में इतनी बदबू क्यों आती है ? क्या विजय दुनिया के भले के ही लिए होती है, हुई है ? क्या पराजय पर अत्याचार, अन्याय नहीं होते ? क्या जय अत्याचारी, अभिमानी नहीं हो जाता ? क्या पराजय भला, पाप-भीरु, निर्दोष नहीं होता ? फिर क्यों हम जय को पूजते हैं और पराजय से घृणा करते हैं ? जय का प्रताप हमारी आँखों को चौंधिया देता है, और पराजय की आत्मग्लानि से हम चौंक उठते हैं ? जय का उन्माद और पराजय की शालीनता, जय का ग़रूर और पराजय की नम्रता को उसके असली रूप में हम नहीं देख पाते। जय के हर्षनाद में पराजय की हाय को हम भूल जाते हैं। जय के तेज में मनुष्य की मूलभूत दुर्बलतायें छिप जाती हैं; उसका सच्चा बल, पौरुष, तेज और पराक्रम तो पराजय की म्लानता में ही दमकता है। जय नहीं, पराजय में मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है।

दुनिया के 'जय' और 'पराजय' शब्द धोखा देने वाले हैं, भटकाने वाले हैं। राम ने रावण को मारा। दुनिया ने उन्हें विजयी कहा। विजयादशमी राम के विजय की स्मारक मानी जाती है। पर पागलों का रास्ता दुनिया से जुदा है। यह विजयी राम उन्हें उतना अपना नहीं मालूम

होता, जितना सीता को छोड़ देने के बाद वियोगी, व्यथित राम। विजयी नहीं, यह हारा हुआ राम उनका राम है। सिंहासन पर अभिषेक कराने वाले, छत्र-चँवर से मण्डित, हनूमान-सेवित राम उनकी नज़रों में उतने ऊँचे नहीं उठे, जितने सीता की खोज में बन-बन भटकने और रोने वाले राम!

दुनिया कहती है, रावण को मार कर राम विजयी हुए; ये पागल कहते हैं, सीता को खोकर राम पराजित हुए। लोग कहते है, राम विजयी वीर है, ये दीवाने कहते है, वे पराजय के वीर हैं।

दुनिया पाण्डवों को अबतक विजयी मानती चली आ रही है; पर महाभारत के मार्मिक रचयिता ध्वनित करते है कि पाण्डव विजयी होकर भी पराजित रहे। महाभारत का पठन वहीतक उत्साहप्रद और स्फूर्तिदायक मालूम होता है, जबतक हम पराजित पाण्डवो के साथ बनो में घूमते-फिरते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों पाण्डव उस पराजय को पराभूत [?] करते जाते हैं, ज्यों-ज्यो वे अपने बन-वास और अज्ञातवास से निकल कर अपनी विजय की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यो हमारे दिल पर एक भयानक छाया गिरती जाती है। हृदय विषण्ण होता जाता है और वह चाहता है कि क्या ही अच्छा होता, यदि वेदव्यास यहीं कहीं महाभारत को समाप्त कर देते! विजय के बाद अर्जुन

हतभ्रम और हतबल हो गये। चोरों से अपने आश्रितों की रक्षा न कर सके; युधिष्ठिर सारे कुल के संहार पर दुखी हो हिमालय में गलने चले गये; सारे कौरव, पाण्डव और यादव-वंश का नाश अपनी आँखों से देखकर उदासीन कृष्ण एक व्याध के तीर से तिरोहित हुए—यह जय है या पराजय ? दुनिया इसे जय कहती हो, पागल इस जय को पराजय की पेशबन्दी कहते हैं।

दुनिया ईसा को पराजित मानती थी। वह दीवाना, मतवाला था। उसका एक उद्देश्य था, धुन थी, लगन थी। दुनिया ने उसे सताया; काँटों का ताज पहनाया, अन्त में सूली पर चढ़ा दिया। वह चढ़ गया। उसका चेहरा खिला हुआ था—पर हृदय में एक दर्द था, एक आह थी ! दुनिया ने उसके लहू-लुहान शव को देखकर कहा—यह गया, मिट गया ! पर उस पराजय के पुतले की करुणाभरी चितवन, विशाल मुखमण्डल की दयामयी विषण्ण आभा उसकी विजय की ज्योति को छिटका रही थी। हम देखते हैं कि इस तरह पराजित होकर भी आज वह विजयी है।

मीरां को उसके लोग बावली, बहकी हुई और बिगड़ी हुई मानते थे। उसे हराने को डिबिया में साँप भेजा और अन्त को ज़हर का प्याला पिलाया गया। पर पराजय के मानवी प्रहार बेकार हुए। वह जीती-जागती विजयिनी हुई। दुनिया के पराजय की नाप गलत साबित हुई।

और दयानन्द के लिए कलतक क्या शास्त्री लोग 'पराजित-पराजित' नहीं चिल्लाते थे ? क्या उसे हराने में, सताने में कोई कसर की गई ? ज़हर ने उसके शरीर को भस्म कर दिया, लोगो ने उस समय चाहे समझा भी हो कि दयानन्द ख़तम हो गया; पर उसकी भस्म उड़-उड़ कर विजय-घोष कर रही थी—मैं किसीको क़ैद कराने नहीं, दुनिया को मुक्त करने आया हूँ । हम देखते हैं कि 'धर्म को डुबोने वाला' वह दयानन्द आज घर-घर में विजयी है ।

इसी तरह गाँधी आज पराजित है । लोग कहते हैं, गाँधी हो लिया । असहयोग का विजयी गाँधी अब दुनिया मे नहीं है । वह चिल्लाता है, लोग मुँह फेर लेते हैं । वह रोता है, लोग हँस देते हैं । वह कातता है, लोग मुँह बना देते है । लोग तिरस्कार करते हैं, उपहास करते हैं, वह खिल-खिला कर हँसता रहता है । वे कहते हैं गाँधी हार गया, हथियार रख दिये, मैदान से भाग गया । वह अपने पथ पर अटल है, तीर की तरह अपने निशानों पर चला आ रहा है । लोग कहते हैं—वह भूला हुआ है, वह अपनी धुन मे मस्त है । लोग विजय को प्रणाम करने के लिए लालायित हैं, वह पराजय का वीर बना हुआ है । लोग विजय के वीर की खोज में है । यह पराजय का वीर पराजय में विजय को देख रहा है । लोग उदास हैं, चिढ़े हुए हैं, प्रकृति स्तब्ध है, हवा बन्द है; वह वैरागी दूर एक

ऊँचे टीले पर अपनी धूनी रमाये हुए मगन बैठा है।
लोग पराजय से भयभीत होकर हताश-से हो रहे हैं। वह
दूर विजय की किरणों को आता हुआ देख रहा है; वह
जय में भी वीर था, आज पराजय में भी वह वीर चमक
रहा है। असहयोग के वीर गाँधी ने दुनिया को चका-चौंध
में डाल दिया था। लोग कहते थे, गाँधी विजयी हुआ ही
चाहता है। वह कहता था—नहीं, अभी देर है। विजय
इतनी सस्ती नहीं हुआ करती। जय के नारों में गाँधी का
स्वाभाविक तेज और ओज छिप जाता था। आज पराजय
की बौछार और फटकार में वह अपना असली जौहर दिखा
रहा है। यों देखा जाय तो आज का यह पराजित गाँधी
दुनिया की दृष्टि में नगण्य है, दुनिया उस जय के गाँधी
को पूजती थी; पर ये मुट्ठी-भर दीवाने तो इस पराजय के
गाँधी पर क़ुरबान हैं, विजयी गाँधी नहीं, प्रतापी गाँधी
नहीं, साधु गाँधी, दीन-दुखियों के लिए रोने और मरने
वाला दुखी, दयामय गाँधी उनके हृदय का अधीश्वर है।
दुनिया ने जिसे हरा दिया, हारा हुआ कहकर जिसे कोने
में फेंक दिया, वही इनका हृदयदेव है, वही इनका तारनहारा
है। विजयी और प्रतापी गाँधी को चाहने वाले आज
दुनिया में चाहे ज्यादा हों पर वे दिन-दिन कम होते जायँगे
और यह सन्त व्यथित गाँधी तो प्रकृति के कण-कण में
व्याप्त होता हुआ सदा अमर रहेगा और सारी जनता के

द्वारा पूजित होगा। दुनिया की नज़र में गाँधी विजय के दिनों में जितना चमका था, वास्तव में उससे कहीं अधिक स्वच्छता, तेजस्विता के साथ आज, पराजय के युग में, वह चमक रहा है। विजय के वीर से अधिक शोभायमान आज यह पराजय का वीर है!

---

[४]

अमरता की गोद में—

लड़के नाटक का खेल दिखा रहे थे। महात्माजी अपना चर्खा कात रहे थे। मैंने देखा, महात्माजी के चेहरे पर पीलापन छा रहा था। विद्यापीठ से आश्रम को वह इन एक-दो दिनों में दो-तीन बार आते-जाते थे। आश्रम के विद्यार्थियों ने अपने विद्यामन्दिर के वार्षिकोत्सव का आयोजन किया था। शायद उसी दिन सुबह कुछ देर हो जाने से महात्माजी ने कुछ दौड़ कर भी समय पर पहुँचने की कोशिश की थी। सुबह के कार्य-क्रम में कुछ देर तक धूप में भी बैठे रहे। इधर राष्ट्रीय महासभा से लौटने के बाद से दूध लेना बन्द कर दिया था—बादाम और नारियल का दूध बना कर पीते थे। इस बात का प्रयोग, बुढ़ापे में शुरू कर दिया था कि बिना दूध के भी मनुष्य रह सकता है, और दूध का गुण देने वाले दूसरे पदार्थ भी हैं। वह शायद यह समझते हैं कि

और बातों में तो मैंने अपना सन्देश दे दिया, व्यवहार-विधि भी बहुत-कुछ बता दी, अब एक काम रह जाता है-इसको भी करता जाऊँ। इस लोभ में दूध बन्द कर दिया था, ख़ुराक कम लेते थे, वज़न कम होता जाता था, शरीर दुबला पड़ता जाता था। इधर गुजरात-विद्यापीठ की पुनर्रचना की धुन में मन में काफी परिश्रम का बोझ पड़ रहा था। फिर आश्रम के उत्सव में आने की दौड़-धूप! उस पीलेपन में इतना इतिहास छिपा हुआ था। जमनालालजी ने भी देखा कि बापू कुछ उदास मालूम होते है। उन्होंने एकाध ऐसी बात छेड़ी, जिससे हँसी आवे। पर महात्माजी हँसे नही। थोड़ी ही देर में उन्होंने चर्खा कातना बन्द कर दिया, एक विद्यार्थी तार लपेटने लगा। सब लोगों का ध्यान नाटक की ओर लगा हुआ था। एकाएक मैंने देखा कि महात्माजी मीराबहन के कंधे का सहारा लेकर उठ रहे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या? मैंने सोचा कि बुढ़ापा है, फिर इधर कमज़ोरी ज्यादा आ गई है, उठते समय सहारा लेने की ज़रूरत पड़ गई हो। मीराबहन एक ही दो क़दम आगे बढ़ी होंगी कि पैर लटक गये, शरीर का सारा बोझ मीराबहन पर आ गया। जमनालालजी ने मुझे सचेत किया—फ़िट आ गया, पैर सम्हाल लो। मै झपटा और लटकते हुए पैरों को सहारा दिया। और भाई भी दौड़ पड़े और सबने महात्माजी को हाथों पर सम्हाल

रक्खा। लड़कों का खेल बन्द हो गया—सन्नाटा छा गया। महात्माजी का सारा शरीर पीला पड़ गया। आँखें खिंच आईं। इतनी पीली पड़ गईं कि देखकर रुलाई आने लगी। गरदन लटक गई। बहुत-से लोगों ने समझ लिया कि बापू चल बसे। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, सारा ब्रह्माण्ड सूना हो गया। कुछ ही दिन पहले मेरी माताजी का स्वर्गवास हुआ था। अन्त समय उनके शरीर की जो अवस्था हो गई थी वही चेष्टायें महात्माजी के शरीर की इस समय दिखाई पड़ीं। एक ही दो दिन पहले महात्माजी ने प्रार्थना के समय प्रवचन करते हुए कहा था—'मरना तो ऐसा कि चर्खा कात रहे हैं, कातते-कातते दम निकल गया। बात कर रहे हैं, बोलते-बोलते साँस छूट गई।' मेरे मन में हुआ, महात्माजी मृत्यु का भी पदार्थ-पाठ दे गये। मौत भी करके दिखा दी। वह एक पुनीत दृश्य था। शोक, करुणा, उदासीनता, चिन्ता, उद्विग्नता का अजीब मिश्रण लोगों के चेहरे पर छा गया था। कोई देश के भविष्य की चिन्ता में डूब गया था। कोई आश्रम के सोच में पड़ गया था। किसी के सामने खुद अपनी समस्यायें खड़ी हुई थीं। किसी को बापू के मिशन की फ़िक्र थी। मेरे मन में उस समय क्या-क्या भाव उठे, यह लिखना शक्ति के बाहर है। या तो हृदय भाव-शून्य हो गया था, या वे इतनी मात्रा में और इतनी तेज़ी से आते-जाते थे कि उनका स्मरण रहना

उत्पन्न उद्विग्नता में कितनी पवित्रता थी ! मृत्यु-वत् मूर्च्छा; ज़रा चेतना आते ही खेल शुरू करने की आज्ञा किंचित् थकावट दूर होते ही चर्खा कातने बैठना—इन बातों के इतिहास में महात्माजी के सारे जीवन का रहस्य और माहात्म्य आजाता है। जब-जब उस भव्य और दिव्य दृश्य का स्मरण हो आता है तब-तब हृदय के अन्तस्थल से यह आवाज़ उठती है—धन्य है हमारी यह गुलामी ! अमर रहे हमारी यह विपत्ति! इन्हीं के बदौलत ऐसे पुरुष हमें नसीब होते हैं। यदि ईश्वर कहे कि 'लो मैं तुम्हें आज़ाद कर देता हूँ, तुम्हारे सब दुःखों और कष्टों को दूर किये देता हूँ, पर इसके बदले में महात्माजी-जैसों का जन्म लेना बन्द कर देना चाहता हूँ, तो मैं कहूँगा—'मैं गुलामी से ज़रूर ऊब गया हूँ, आज़ादी का ज़रूर भूखा हूँ, देश की दुर्दशा मुझे बिच्छू की तरह डस रही है, उसके लिए मुझसे बड़ी क़ीमत ले लीजिए—महात्माजी जैसे तक की आहुति लेना हो तो ले लीजिए, पर उनका आना मत रोकिए।' यदि गुलामी और विपत्ति की यातना में ही ऐसों का जन्म होता हो, तो मैं आगे बढ़कर उस गुलामी और विपत्ति के चरण चूमूँगा। वह स्वराज्य बेकार है, जिसमें पवित्र विभूति न हो—उसके लिए स्थान न हो; वह पराधीनता, वह नरक, स्वर्ग और अपवर्ग से भी बढ़कर है, जिसमें पवित्र विभूतियों का दर्शन होता हो।

बुद्धि के उदय के युग की याद दिलाने वाले हमारे मित्र इसे भोली भावुकता कह कर इस पर हँस पड़ेंगे। मुझे इसकी शिकायत नहीं। मैं कह चुका हूँ, दीवानों का रास्ता जुदा है—समझदारों का रास्ता जुदा है। समझदारी, ठंडापन, खुदगरज़ी, ग़ैरत और ज़िल्लत से मुझे दीवानों का आत्मार्पण, ऊँचा उठना, उड़ना और कूद पड़ना अधिक गौरवपूर्ण मालूम होता है। बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय की शुद्धता मनुष्यत्व के अधिक नज़दीक है। बुद्धि की तीक्ष्णता में हृदय को ऊँचा उठाने का उतना सामर्थ्य नहीं है, जितना हृदय की निर्मलता में बुद्धि के तीक्ष्ण बनाने का है। हृदय की मलिनता ज्यों-ज्यों कम होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धि की तीव्रता और साथ ही निर्णय की शुद्धता अपने-आप बढ़ती जाती है। पवित्रता की चाह और स्वाधीनता की चाह एक ही वस्तु है। कोरी स्वाधीनता चाहनेवाला दूसरे व्यक्तियों के अंकुश से अपने को छुड़ाना चाहता है; पर पवित्रता का इच्छुक तो अपनी भी बुराइयों और दोषों से अपने को मुक्त कर लेना चाहता है। अतएव वह बढ़कर और ऊँचे दर्जे का स्वाधीनता-प्रेमी है।

मेरे दूसरे भाई कहेंगे—पर क्या बीसवीं सदी में तुम व्यक्ति-माहात्म्य का गीत गाने लगे? दुनिया कहाँ जा रही है, तुम कहाँ जा रहे हो?

हाँ, बात कुछ है उलटी है। उस पवित्र दृश्य को पाठकों के सामने उपस्थित करने की आज़ादी मैने इसलिए नहीं ली कि पाठक महात्माजी को ईश्वर समझ लें, उनकी मूर्ति बनाकर उसका ध्यान और उनके नाम का जप करें—हालाँकि हिन्दू-जीवन की वस्तुस्थिति में तो इसे भी एक हद तक स्थान है। मेरा कहना इतना ही है कि दुनिया व्यक्तियो की बनी हुई है, व्यक्तियो के लिए है, और सिद्धान्तो, आदर्शों की कल्पना हम व्यक्तियों के ही द्वारा कर सकते हैं। व्यक्ति क्या है ? एक जीता-जागता आदर्श और सिद्धान्त ही तो है ? लोग क्यो राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, रामदास, मुहम्मद, गोविन्दसिह, मार्क्स, लेनिन को याद करते हैं ? क्यो गाँधी को याद करना चाहते है ? यदि ये कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपालक, कुछ आदर्शों के प्रवर्त्तक न होते, तो इनकी हड्डी-पसलियो में क्या रक्खा था ? लोग उनके शरीर को नहीं मानते हैं, उनके गुणों और कार्य को पूजते हैं; और शरीर इन बातों का साधन होता है, इसलिए जबतक वह है तबतक उसकी महिमा और प्रतिष्ठा को मिटा देने का सामर्थ्य किसी में नहीं। फिर मैंने तो उस पवित्र प्रसंग का वर्णन इसलिए किया है कि हम—महात्माजी को किसी भी अंश और किसी भी अर्थ में अपने से श्रेष्ठ समझने वाले—उनके सम्बन्ध में सावधान हो जायँ। जो उनसे विशेष अनुराग

रखते हैं, जिन्हें उनका जीवनादर्श प्रिय है, जो अपने को उनका अनुयायी मानते हैं, वे अपने कर्तव्य का विशेषरूप से विचार और निश्चय कर लें। अबतक न समझा हो तो अब शीघ्र समझ लें कि महात्माजी क्या चाहते हैं, और क्या कर रहे हैं। देश के नवयुवक और विद्यार्थी कम-से-कम उनके जीवन से तो वाक़िफ हो लें। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जर्मनी, आस्ट्रिया और फ्रांस के विद्वान् महात्माजी पर बढ़िया विवेचनात्मक पुस्तकें लिखें और भारतवर्ष के स्कूल-कालेजों में पढ़नेवाले हज़ारों विद्यार्थी उनके जीवन के मर्म तक को समझने की फुरसत न पावें! अस्तु।

जिन्हें पहचानने की बुद्धि और भविष्य को देखनेवाली आँखें हैं वे तो आज भी देख सकते हैं कि महात्माजी भारत के ही मन, वचन, कर्म में नहीं बल्कि दुनिया के भी इतिहास में क्या उलट-फेर कर रहे हैं; फिर भी अधिकांश लोग तो उन बातों को स्पष्ट-रूप से तभी समझ पावेंगे, जब आज का भविष्य अपने को वर्त्तमान के रूप में सामने लावेगा। यह बात मानकर चलने में कोई बुराई नहीं है कि महात्माजी का शरीर अधिक दिनों तक उनकी आत्मा का साथ न दे सकेगा। यह हम इसलिए नहीं मानें कि हम उनके जीवन से निराश हो चुके हैं, बल्कि इसलिए मानें कि मृत्यु प्रकृति का एक नियम है और जागरूक मनुष्य को सदा उसके

लिए तैयार रहना चाहिए और न हम मृत्यु की बातों और चर्चा को अमंगल या भयजनक ही समझें। मृत्यु शरीर की एक मीठी चिरनिद्रा है। मृत्यु जीवन के विकास की एक अवस्था है। शरीर का विकास मर्यादित है; वह प्रकृति के— पंचमहाभूतों के—नियमों से बँधा हुआ है। आत्मा का विकास मर्याद है और प्रकृति की पहुँच के परे होना ही उसका अन्तिदित लक्ष्य है। किसी की आत्मा का विकास जब एक शरीर के विकास की मर्यादा के बाहर जाने लगता है तब शरीर का छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। विकासशील आत्माओं के जीवन में शरीर की जीर्णता और अन्तःस्थिति को हम विशेष-रूप से देख सकते है। अतएव शरीर का नाश दुःख, भय, या निराशा का कारण न होना चाहिए। महात्माजी के सम्बन्ध में भी, शरीर-मोह से, हमे किसी प्रकार प्रभावित न होना चाहिए। बल्कि मै तो देखता हूँ कि वह तो अमरता की गोद मे दिन-दिन आगे बढ़ रहे है। हाँ, जबतक उनका शरीर अपने स्वाभाविक क्रम से छूटने की स्थिति को नहीं पहुँच जाता तबतक उसकी रक्षा और पोषण की चिन्ता उन्हे और हमें सबको होनी चाहिए; पर उनके शरीर की वर्त्तमान जीर्ण-शीर्णता को ध्यान में लाकर हमें अपने-अपने कर्तव्यो मे अधिक सावधान और जागरूक अवश्य हो जाना चाहिए।

खुद महात्माजी ने तो अपनी ओर से यह कही दिया है कि मेरे शरीर का खयाल छोड़ दो—असली बात तो स्वराज्य है; उसकी प्राप्ति में जुट पड़ो, और उसके लिए आकाश-पाताल एक कर दो। साथ ही उन्होंने बताया कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार इस समय स्वराज्य-प्राप्ति का प्रभावशाली कार्यक्रम हो सकता है। और उसका मध्य-बिन्दु है खादी और चर्खा। अतएव स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें कम-से-कम इतना अवश्य करना चाहिए—

(१) विलायती वस्त्र का उपयोग हम बिलकुल छोड़ दें। विलायती वस्त्र पहनते या इस्तेमाल करते हुए हमें शर्म आने लगे और मन को असह्य पीड़ा होने लगे।

(२) केवल स्वदेशी ही वस्त्र पहनें और बरतें। उसमें भी जितनी अधिक खादी इस्तेमाल कर सकें नियम-पूर्वक करें—कम-से-कम हर भारतवासी एक कुरता और टोपी खादी को अवश्य पहनें और बहनें खादी की साड़ी या फ़िल-हाल कंचुकी ही पहनने का व्रत धारण कर लें।

(३) रोज़ नियम-पूर्वक चर्खा या तकली पर सूत कातें।

जिन्हें महात्माजी का जीवनादर्श प्रिय है उन्हें इतनी बातों पर ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिए—

(१) मन, वचन और कार्य में अधिकाधिक सत्य का अवलम्बन करें।

(२) मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम का व्यवहार करने का यत्न करें।

(३) जीवन के हर अंग में संयम को प्रधानता दें; क्या स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध में, क्या भोजन-पान और रहन-सहन में, क्या सुख और भोग की सामग्री में; सब जगह संयम से काम लेने की आदत डालें।

(४) अछूतों से छुआछूत मानना छोड़ दें।

(५) हिन्दुओ और मुसलमानो के वैमनस्य को घटाने मे अपनी शक्ति लगावें। कम-से-कम अपनी ओर से उसे चढ़ने न दें।

(६) नियमनिष्ठ और निर्भय बनने का यत्न करे।

(७) मरे हुए पशु की ही खाल का चमड़ा इस्तेमाल करें; कटे पशु का नहीं।

(८) जिन लोगो ने कुछ-न-कुछ काम अपनी तरफ ले रक्खा है वे इस उत्साह, भाव और लगन से उसमें जुट पड़ें, मानो महात्माजी को हम जीते-जी दिखा दे कि आपके न रहने पर भी हम अपने कामों को और भी ज़िम्मेवारी और दृढ़ता के साथ करते रहेंगे।

यदि हम इतना कर सके तो महात्माजी, मर जाने पर भी, सर्वदा हमे अमरता की गोद मे दिखाई देंगे और

यदि हम कोरे शब्दों से उनकी पूजा करते रहे तो वह हमारे सामने अमर होकर भी अपने को मरे से बदतर समझेंगे। और मैं ज़रूर मानता हूँ कि इस पिछली अमरता से पहली मृत्यु हर तरह श्रेयस्कर है। यों तो महापुरुषों का जीवन जैसे चैतन्य का स्रोत और प्रकाश की शिखा होता है, वैसे ही मृत्यु एक स्फूर्ति की बैटरी होती है। जीवित अवस्था में उसकी आत्मा शरीर के क़ैदख़ाने में बन्द रहकर अपना काम करती है; पर मृत्यु के पश्चात् वह स्वतंत्र और स्वाधीन होकर फैलती और अपना काम करती है। अतएव, आइए, हम तो चिन्ता और आशङ्का की घटाओं को चीर कर अपने काम में आगे बढ़ते चले जावें और इसी बात पर परमात्मा का उपकार मानें कि हम महात्माजी-जैसी विभूति के समय में उसी के देश में उत्पन्न हुए, रहे, उसके दर्शन किये, उसके लेख पढ़े, उपदेश सुने और स्वराज्य की सेना में—एक छोटे और मामूली क्यों न हों—उसके सिपाही बनने का गौरव प्राप्त किया। और महात्माजी के पुरुषार्थी जीवन को देखकर उनकी-सी विभूति बनने का हौसला रक्खें। महात्माजी का जीवन क्या है? आशा, अमरता और आत्मा का संदेश है; जीवन, जागृति, बल और बलिदान का नमूना है। अमरता की गोद ऐसे ही जीवन के लिए सिरजी और खुली है। ओ मनुष्य, तू मृत्यु की भयानकता से न सिहर—उसके अन्दर अमरता की ज्योति जगमगा रही है। तू गा—

"अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्योंकर देह धरेंगे ?
राग-द्वेष जग-बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे ।
मर्यो अनन्तकाल ते प्रानी, सो हम काल हरेंगे ॥
देह विनाशी हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ।
नासी-नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे ॥

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
३८	१७	सहयोगी	असहयोगी
४४	२	माया	छाया
४५	१४	संस्कार से बना है।	संस्कार है। संस्कृति शब्द संस्कार से बना है।
५९	१८	खरी भक्ति	स्वामि भक्ति
५९	१९	आशाओं	आज्ञाओं
६०	१८	डगमगाते हैं।	डगमगाते नहीं।
६२	२२	ग्रेज़ा	अंग्रेज़ों
७२	५	धर्म देश की	देश धर्म की
७२	१४	रास्ता	शास्ता
७४	९	हिंसात्मक संग्राम	अहिंसात्मक संग्रामों
७५	४	नाम दुहाई	नाम की दुहाई
८०	६	सदैव आंख	सदैव उसकी आंख
८१	६	करें	करेंगे
१२४	१६	कम कहीं हैं।	कम नहीं हैं।
१२७	१६	थुकना	थुनकना
१३२	२१	जंचाना चाहिए कि	जंचाना कि
१५१	७	छुटकारा बिना	छुटकारा पाये बिना
१५६	१८	पुरुष का सम्बंध	पुरुष से सम्बन्ध
१५८	५	व्यभिचार से	व्यभिचार से अर्थात्
१६३	२१	पर सुख	पर ये सुख
१६५	२१	चौकी	चौरी
१७५	६	बुरायाँ	बुराइयाँ

पृष्ठ	संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१८५	८	साहित्य-शाला	साहित्य शास्त्र
१८५	९	काव्य-शासन	काव्य शास्त्र
१८६	६	कव्य रचना	काव्य रचना
१९६	१८	संदेह	संदेश
१९९	४	प्रेम रस था	प्रेम रस न था
२०१	६	शरीर-सुख-फलक	शरीर-सुख-मूलक
२०२	७	भूमिका रहते हैं	भूमिका पर रहते हैं
२०२	११	विश्व-जनीक	विश्व-जनीन
२२५	१२	काष्टाद्भ्रष्टो	काष्ठाद्भ्रष्टो
२२८	१६	हृहय	हृदय।
२२९	११	चित्त	चित्र
२३०	६	'लेख रुचि'	'लोकरुचि'
२३४	१०	भस देव	ब्रह्मदेव
२३५	१८	को संग्राम-भूमि	कोन संग्राम भूमि
२४०	१५	रख सकता	रह सकता
२४०	१६	रह सकता	[illegible]त्र सकता
२४४	१७	श्रृगार	[illegible]
२४५	५	ऋङ्गार	[illegible]
२४५	६	विलासित-	[illegible]ता की
२५७	१२	कि निलहो से	कि या तो निलहों के
२६६	१५	ज्ञानाञ्जन	ज्ञानाञ्जन
२६६	१६	गुरुवे	गुरवे
२७०	१८	होरस	होरस
२७७	१	हतश्रम	हतप्रभ
२८२	६	मनमें	मनपर